गोपीनाथ पुरोहित पुस्तकालय
वनस्थली विद्यापीठ
श्रेणी संख्या RH 294.5924
पुस्तक संख्या 269
आवाप्ति क्रमांक 1113



॥ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ॥

श्री कौन्तेयभयापहारिणे नमः

श्री अनन्तमूर्तये नमः

अथ



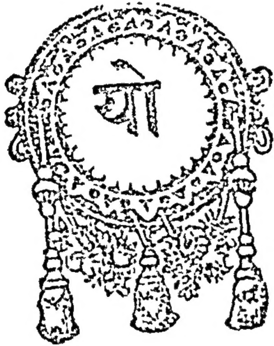
श्रीमद्भगवद्गीता

कर्म्मकाण्डाख्ये प्रथमषट्के

* षष्ठोऽध्यायः *

ॐ पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मां ॥ ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

(शु० य० अ० १६ मं० ३६)



लोकं सकलं पुनाति निगमा यं प्राहुरेकान्ततो ।
व्याप्तं येन जगज्जगन्ति सततं यस्मै नमस्कुर्वते ॥
यस्मादाविर्भूदशेषममरा यस्य प्रसादार्थिनो ।
यस्मिन्पर्यवसस्यति स्फुरदिदं तस्मै नमो विष्णवे ॥

अजी ! वह देखो तो सही दाहिनी ओरसे एक अद्भुत घटा कैसी शोभाके साथ उमडी चली आरही है । जिसके घनघोर शब्दोंको सुन दोनों कान बहरे हुए चले जारहे हैं । जिसके मध्य चंचल चपलाकी चमकसे आखोंमें चकाचौंध लगरही है । जिसके भीतर दो, विमल सूर्य्य और चन्द्र छिपेहुए देख पडते हैं । कुछ दूर और आगे बढकर:— अहा ! यह तो घटा नहीं है यह तो अर्जुनका रथ है । जो वीरोंसे घिरे जानेके कारण घटाकी शोभा देरहा है । इसके श्वेत घोडोंकी चालोंकी चपलताई विद्युतको लज्जित कररही है । वीरोंके मध्य श्यामसुन्दर और उनके परमप्रिय सखा अर्जुनके दिव्य मुखारविन्द सूर्य्य और चन्द्रके समान चमकरहे हैं ! क्योंन हो जहां स्वयम् सकलजनाभिराम घनश्याम पूर्णकाम रथवान् बनकर पांचजन्य शंखको बादलकी गम्भीर गर्जनाके समान फूंकतेहुए वीरोंके अङ्गमें युद्धका उमङ्ग बढारहे हैं और अपने भक्त अर्जुनपर भक्तवत्सलतारूप वर्षा करतेहुए अपने विरदके संभालनेमें कटिबद्ध हैं । ऐसे कृपासागरकी कृपाकी थाह किसको मिलसकती है । अब अञ्जलिबद्ध होकर हम पामरोंकी यही प्रार्थना है, कि जगत्सुन्दर भक्तहितकारी गोलो विहारी मदनमुरारी गिरिवरधारी इसी वाणिकसे सदा हमलोगोंके मनमें निवासकरें और हमलोगोंका भी रथ-

वान् बन हमारे शरीररूप रथोंको हांकतेहुए संसाररूप महाभारत नाम युद्धकी विजय करावें ।

मू०— अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः ।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
॥ १ ॥

पदच्छेदः— यः (योगी) कर्मफलम् (विहितकर्मपरिणामम्) अनाश्रितः (अनपेक्षमाणः । फलाभिसंधानरहितः) कार्य्यम् (अवश्यकर्त्तव्यम । कर्तव्यतया शास्त्रेण विहितं नित्यमग्निहोत्रादिकम्) कर्म (अग्निहोत्राद्यनुष्ठानम्) करोति (आचरति) सः (सर्वकर्मफल-तृष्णात्यागी) सन्यासी (यथार्थत्यागी) स, च, योगी (यथार्थ योगानुष्ठायी) न (नतु) निरग्निः (अग्निसाध्यश्रौतकर्मत्यागी) न, च, अक्रियः (त्यक्तवाङ्मनःकायक्रियः । अनग्निसाध्यपूर्ताख्य कर्मत्यागी) ॥ १ ॥

पदार्थः— (यः) जो कर्मानुष्ठान करनेवाला प्राणी (कर्मफलम्) कर्मके फलोंसे (अनाश्रितः) अपेक्षारहित होकर (कार्य्यं, कर्म) अवश्य करनेयोग्य विहित कर्मको (करोति) करता है (सः) वही (सन्यासी) यथार्थ त्यागी है (च) और (सः) वही (योगी) यथार्थ योगी (च) भी है (न, निरग्निः) पर वह यथार्थ सन्यासी वा योगी नहीं है जिसने केवल अग्निको त्यागदिया है अर्थात् आग स्पर्श नहीं करता (न, च) और वह भी ठीक–ठीक

सन्न्यासी वा योगी नहीं है जो (अक्रियः) विहित-कर्मोको त्यागकर क्रियारहित होगया है ॥ १ ॥

भावार्थः— पांचवे अध्यायके अन्तमें भगवान्ने ध्यानयोग अर्थात् अष्टांगयोगके विषय जो ३ श्लोक वर्णनकिये वे * सूत्रवत् हैं। अब इस छठवें अध्यायमें मानो उन ही श्लोकोंकी वृत्ति करतेहुए अर्थात् विस्तार कर स्पष्टरूपसे व्याख्यान करतेहुए भगवान् यह दिख-लाते हैं, कि सच्चा सन्न्यासी वा योगी कौन है? वर्त्तमान-कालमें ऐसा प्रसिद्ध है, कि जो आग नहीं छूता और कुछ कर्म नहीं करता वही सच्चा सन्न्यासी है, दूसरा नहीं! पर यह सर्व साधारणकी भूल है। इसलिये भगवान् इस श्लोकसे सच्चे सन्न्यासी वा सच्चे योगीके स्वरू-पका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म करोति यः**] कर्मफलके आश्रयको परित्यागकर अवश्य करने योग्य कर्मको जो करता है अर्थात् जो अपने वर्ण वा आश्रमके अनु-सार जिस विहितकर्म करनेकी अत्यन्त आवश्यकता देखता है, उसे ठीक समयपर सम्पादन करलेता है, पर फल नहीं चाहता [**स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः**] वही यथार्थ सन्न्यासी और योगी भी है। पर जो केवल निरग्नि वा अक्रियहोजाता है वह सन्न्यासी वा योगी नहीं है। क्योंकि फलका सङ्ग छोडकर कर्म करनेवाला ही सच्चा सन्न्यासी वा योगी है। उसीके हृदयमें त्यागका अंकुर जम-

* योगसूत्रं त्रिभिः श्लोकैः पंचमान्ते यदीरितम्। षष्ठ आरभ्यतेऽध्यायस्तद्व्याख्या-नाय विस्तरात् ॥

चुका है, अर्थात् जिज्ञासु होचुका है। श्रुति-स्मृतिकी आज्ञानुसार ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋणको चुकाताहुआ लोकैषणा, वित्तै-षणा और पुत्रैषणाको त्याग करताहुआ अन्तमें सच्चे सन्न्यासीकी पदवी-तक पहुंचनेकी अभिलाषा रखता है।

यहां "योगी" कहनेसे भगवान्का दोनों प्रकारके योगियोंसे तात्पर्य्य है अर्थात् निष्काम-कर्मयोग जो वहिरंग साधन है और ध्यान-योग जो अन्तरंगसाधन, इन दोनोंके साधन करनेवाले योगियोंसे प्रयो-जन है। इस अध्यायमें जहां योगी शब्द आवे उससे वहिरंग और अन्तरंग दोनों साधनवालोंका ग्रहण होना चाहिये।

इसी कारण भगवान् यहां अर्जुनके प्रति यों कहते हैं, कि जो साधक फलोंसे निराश्रय होकर वहिरंग और अन्तरंग दोनों साधनोंसे सम्पन्न है वही सच्चा सन्न्यासी और योगी है। पर वह सच्चा सन्न्यासी वा योगी नहीं है जो अग्नि नहीं छूता। यदि निरग्नि होनेका यही तात्पर्य्य हो, कि अग्नि नहीं छूना तो सम्भव है, कि ऐसा सन्न्यासी किसी समय घोर पातकका भागी होजावेगा। जैसे कोई सन्न्यासी किसी स्थानपर बैठा है, उसके समीप एक प्राणी शीतकालमें अपने उलावको लगाकर तापताहुआ वहां ही औंधकर सोजावे, इतनेमें उसके वस्त्रमें आग लगजावे जिससे उसका जलजाना सम्भव हो तो क्या वह सन्न्यासी उस वस्त्रकी अग्निको हाथोंसे मलकर नहीं बुझावेगा? यदि नहीं बुझाता है तो वह सन्न्यासी घोर पापका भागी होगा! वरु आत्म-घातके दोषसे दूषित होगा, सबलोग उसे चाण्डाल, निर्दयी और मूर्ख

कहेंगे। इसलिये निरग्निहोनेका यह तात्पर्य्य कदापि भी नहीं है, कि अग्निमात्र न छूवे।

श्रुति–स्मृतियोंने जो सन्न्यासियोंकेलिये निरग्नि होना कहा है उसका मुख्य अभिप्राय यह है, कि मनुष्योंको ब्रह्मचर्य्याश्रमसे वानप्रस्थाश्रम तक, नाना प्रकारके श्रौतस्मार्त्त कर्मोंके साधन निमित्त, विविध प्रकारकी अग्नियोंका सेवन करना पडता है। विशेषकर गृहस्थोंके जितने कर्म हैं सब अग्निद्वारा ही सम्पादन कियेजाते हैं। गृहपति जो घरका प्रधान पुरुष नाना प्रकारके कर्मोंके सम्पादन निमित्त, अपने घरमें जिस अग्निको स्थापनकर रखता है, उसे 'गार्हपत्याग्नि' कहते हैं। वही गृहस्थ जब किसी विशेष यज्ञके सम्पादन निमित्त अग्निस्थापन करता है तो उसे * आहवनीय-अग्नि कहते हैं।

---

* पाठकोंके बोधार्थ विशेष अग्नियोंके नाम लिखेजाते हैं —

लौकिके पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्तितः।
अग्नेस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने विधीयते॥
पुंसवने चन्द्रनामा शुंगाकर्मणि शोभनः।
सीमन्ते मंगलो नाम प्रगल्भो जातकर्मणि॥
नाम्नि स्यात् पार्थिवो ह्यग्निः प्राशने च शुचिस्तथा।
सत्यनामा च चूडायां व्रतादेशे समुद्भवः।
गोदाने सूर्यनामा च केशान्ते ह्यग्निरुच्यते।
वैश्वानरो * विसर्गे तु विवाहे योजकः स्मृतः॥

---

* विसर्गे नाग्निकर्त्तव्ये कर्मविशेषे।

इन अग्नियोंको ब्रह्मचर्यावस्थासे वानप्रस्थ पर्यन्त साथ रखनेकी आज्ञा है । इसी कारण वेदमें इस अग्निकी स्तुति यों कीगई है—

ॐ त्वामग्ने हविष्मन्तो देवं मर्त्ता स ईडते मन्ये त्वा जातवेदसं स पव्या वच्यानुषक् । (ऋग्वेद अ० १ सूक्त ६ मंत्र १)

चतुर्थ्यान्तु शिखी नाम धृतिरग्निस्तथापरे ।
प्रायश्चित्ते विधुश्चैव पाकयज्ञे तु साहसः ॥

अर्थ— लौकिक कार्य, गृहप्रवेश इत्यादिमें अग्निका नाम पावक है । गर्भाधानके समय मारुत । पुंसवनमें चन्द्र । शुंगा कर्ममें शोभन । सीमन्त संस्कारमें मंगल । जातकर्ममें प्रगल्भ । नामकर्ममें पार्थिव । अन्नप्राशनमें शुचि । चूड़ाकर्ममें सत्य । उपनयनमें समुद्भव । गोदानमें सूर्य । केशान्त अर्थात् समावर्तनमें अग्नि । विशेष अग्निकर्ममें वैश्वानर । विवाहमें योजक । विवाहान्तके समय चतुर्थी संस्कारमें अथवा चतुर्थाश्रम जो सन्न्यास धारणका समय उसमें शिखी । अन्य प्रकारके होमादिमें धृति । प्रायश्चितके समय विधुः । पाकयज्ञमें अर्थात पाकांगहोम, वृषोत्सर्ग और गृहप्रतिष्ठा जो पाकयज्ञ कहेजाते हैं तिनमें अग्निका नाम साहस है । अग्निका नाम सप्तजिह्वा भी है अर्थात अग्निकी सात जिह्वायें होतीं हैं इन सातोंसे यह अग्निदेव नाना प्रकारके हवनीय द्रव्योंको ग्रहण करता है ।

" ॐकाली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा । स्फुलिंगिनी विश्वरुची च देवी लोलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ " (मुं० १ खं० २ श्रु० ४)

अर्थात काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगनी और विश्वरुची ये ही अग्निकी सात जिह्वायें हैं जिनसे अग्निदेव हवनीय द्रव्योंका ग्रहण करता है ।

अर्थ— हे अग्निदेव ! (देवम्) 'प्रकाशमान देवता' तुमको हवनीय द्रव्योंके साथ मनुष्यगण स्तुति करते हैं और मैं भी तुमको जातवेदस मानता हूं इसलिये मैं भी तुम्हारी स्तुति करता हूं। सो तुम नाना प्रकारके हवनीय द्रव्योंसे मिलकर (वह्नि) प्रज्वलित होते हो। इस प्रकार वेदने इस अग्निकी स्तुति करते कराते कर्मोंमें उपस्थित रखनेकी आज्ञा दी है। जब सन्न्यास आश्रमका ग्रहण होता है तब इन सब अग्नियोंका परित्याग करना पडता है। उस दिनसे मनुष्य निरग्नि होजाता है।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि वह **सन्न्यासी** नहीं है जो प्रत्यक्षमें तो अग्निको त्यागकर हवनादि कर्मोंका परित्याग करदे और अन्तःकरणमें उन कर्मोंके फलोंकी आशा बनाये रहे। क्योंकि केवल अग्नि त्यागकर कर्मोंको स्वरूपतः त्यागदेना और उनके फलों की कामनासे लिप्त रहना सन्न्यासीका धर्म नहीं है। इसलिये भगवान कहते हैं, कि सच्चा सन्न्यासी वही है जिसने कर्मोंके फलोंका त्याग किया है। चाहे वह अग्निका स्पर्श करे वा न करे। क्योंकि जिसने फलका त्याग किया उसका कर्म करना और न करना समान ही है। वही प्राणी यथार्थ योगी भी है। क्योंकि योगियोंको भी बहिरंग-साधनमें निष्काम-कर्मयोगका फल भगवत्में ही अर्पण करना पडता है, जिससे अन्तःकरणकी शुद्धि लाभ होकरे भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार अन्तरंग साधनमें भी अन्तःकरणसे सब प्रकार की वासनाओंको परित्याग कर भगवत्-स्वरूप ही में समाधिस्थ होना पडता है, कर्मोंका बन्धन एक बारगी छूट ही जाता है। प्राणी बासना

रहित हो शुद्ध निर्मल चैतन्य आनन्द-स्वरूप होजाता हैं। अर्थात् वहिरंग और अन्तरंग दोनों प्रकारके साधनोंसे भगवत्-स्वरूप ही का लाभ होता है। इसलिये भगवान कहते हैं, कि " न निरग्निर्न चाक्रियः " केवल अग्निका परित्याग करदेनेसे वा अक्रिय होनेसे अर्थात् कर्मोंको स्वरूपतः त्याग देनेसे कोई भी सन्न्यासी वा योगी नहीं होसकता।

शंका— निरग्नि पद कहने ही से अक्रिय होना। सिद्ध होता है क्योंकि जब तक कुछ कर्म करता रहता है तब तक अग्नि-सेवन करनी पडती है, फिर भगवान्ने निरग्निके साथ अक्रिय कहकर पुनरुक्ति क्यों की ?

समाधान— भगवान्के वचनमें पुनरुक्ति दोष नहीं है। निरग्नि कहनेसे केवल उन्हीं कर्मोंका परित्याग समझा जाता है जिन्हें द्विजोंको अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार करनेकी आज्ञा है।

पर अक्रिय कहनेसे उन कर्मोंका भी परित्याग समझा जाता है, जिन्हें अग्निसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे वेद पढना, भिक्षा-मांगनी, दान लेना, वाणिज्य करना, युद्ध करना, कृषि करना, शिल्प विद्या द्वारा द्रव्य उपार्जन करना इत्यादि। इसलिये **निरग्नि और अक्रिय** दो शब्दोंका भिन्न-भिन्न प्रयोग करके भगवान्ने सर्व प्रकार के कर्मोंके त्याग दिखाये। अथवा **निरग्नि** कहनेसे इष्टादि कर्मोंका त्याग और अक्रिय कहनेसे पूर्त्तादि कर्मोंका त्याग भी समझना चाहिये।

" एकाग्निकर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते ।
अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टं तदभिधीयते ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमार्याः प्रचक्षते ॥ "

अर्थ— तीनों प्रकारकी अग्नियोंमें जो हवनादि कर्म कियेजाते हैं तथा अन्तर्वेदीमें जो दान दियाजाता है वे इष्टकर्म कहलाते हैं । बावली, कूप, तालाव, देवताओंका मन्दिर, अन्नदान, बाटिकाका लगाना इत्यादि पूर्त्तकर्म कहलाते हैं ।

इन दोनों प्रकारके कर्मोंके त्याग दिखलानेके तात्पर्य्यसे भगवान्ने निरग्नि और अक्रिय दोनों शब्दोंका विलग–विलग प्रयोग किया है । यहां शंका मत करो !

दूसरी शंका— इस छठवें अध्यायमें तो भगवान् ध्यानयोगका वर्णन करनेचले हैं जो मोक्षका अन्तरंग साधन है । फिर क्या कारण है, कि कर्मयोगकी स्तुति करतेहुए इस अध्यायका आरंभ किया ? इस अध्यायमें कर्मयोग कहनेकी क्या आवश्यकता थी ?

समाधान— यह छठवां अध्याय भी कर्मयोगहीका है । पिछले अध्यायोंमें भगवान्ने बहिरङ्गकर्मोंका वर्णनकिया अब इस अध्यायमें अन्तरङ्गकर्मों का वर्णन करेंगे इसलिये इस श्लोकके कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि कर्म और सन्न्यासके विषय जो विवाद पहले होचुका है और उससे यह सिद्ध होचुका है, कि एक ही प्राणी जो

साधन अवस्थामें कर्मयोगका अधिकारी रहता हैं, जब उसकी सिद्धावस्था आती है, तो वह कर्मोंको त्याग यथार्थ सन्न्यासी होजाता है, तब भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति करता है। तात्पर्य्य यह है, कि सांख्य और योग दोनोंमें कुछ अन्तर नहीं है केवल अवस्थाका भेद है। बार-बार इसी आशयको भगवान् कहते चलेआरेहे हैं, कि " सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति····" " यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते····" (अ० ५ श्लो० ४, ५) इसी विषयको इस ध्यानयोगके कहते समय बडी स्वच्छतासे दृढ करते हैं, कि वही प्राणी सन्न्यासी है और योगी भी है जो निष्काम-कर्मोंका सम्पादन करता है। अर्थात् गृहस्थ भी यदि फलोंको त्याग कर्मोंका अनुष्ठान करता है तो वह सबकुछ करताहुआ भी सन्न्यासी है। क्योंकि निरग्नि और अक्रिय होनेमात्रहीसे कोई यथार्थ सन्न्यासी नहीं होसकता। वरु सर्वप्रकारकी क्रियाओंमें लगाहुआ भी हैं, पर कर्मोंके फलसे कुछ प्रयोजन नहीं रखता, वही सन्न्यासी और योगी हैं।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि इस अन्तरंगसाधन में नाना प्रकारकी × सिद्धियां प्राप्त होती हैं, वे बुद्धिको प्रलोभन देकर अपनी ओर खींचती हैं।

× १. अणिमा छोटा एक परमाणुके समान होजाना, २. लघिमा अत्यन्त हौला होजाना, ३. प्राप्ति जो इच्छाहो उसे प्राप्त करलेना, ४. प्राकाम्य जैसी इच्छा हो वही करना, ५. महिमा भारी होजाना, ६. ईशित्व सष्टिमात्रपर श्रेष्ठ होजाना। ७. वशित्व सबको वश करलेना। ८. कामावसायिता कामनाकी अवश्य पूर्त्ति करनी। ये आठ सिद्धियां हैं।

बहिरंग—कर्मयोगके फलोंको तो त्याग भी सकता है क्योंकि यज्ञोंके सम्पादनसे जो स्वर्गफल है उसे कर्मकरनेवाला नहीं देखता और न कोई स्वर्गका गयाहुआ प्राणी लौटकर कुछ वहांका समाचार कहता है। पर अन्तरंगसाधनके फल जो अष्टसिद्धियां प्रत्यक्ष मिलती हैं उन्हें त्यागना कठिन है।

अब विचारने योग्य है, कि ऐसी सिद्धियां जिसे प्राप्त हों वह क्या इनके प्रलोभनमें पडकर इनके साथ नहीं अटक जावेगा ? अवश्य इनमें लिपटकर मुख्य लक्ष्य जो भगवत-स्वरूप है उसके भूलजानेका भय है।

इसलिये भगवान् प्राणियोंके कल्याणनिमित्त इस ध्यानयोग अर्थात् अष्टांगयोगकी सिद्धियोंसे बचानेकेलिये आरंभहीमें चेतादेते हैं, कि जो प्राणी कर्मोंके फलसे अनाश्रितहोकर अर्थात् नाना प्रकारकी सिद्धियोंकी ओर न देखकर इस योग का साधन करेगा वही यथार्थ योगी और सन्न्यासी है। फिर भगवान्को यह स्मरण होआया, कि इस योगके साधन करनेमें अधिक कठिनता है, क्योंकि बहिरंग-साधन तो सुलभ है जिसमें केवल पुष्कलद्रव्य और अवकाशमात्रके लाभहोनेसे कुछ भी कठिनता नहीं पडती। पर यह जो ध्यानयोग अन्तरंगसाधन है, इसमें शारीरिक और मानसिक नियमोंमें दृढ रहनापडता है और बहिरंगसाधन द्वारा जो कुछ अपने अन्तःकरणको शुद्धकरलाया है, उसे बचाना पडता है। अतएव केवल अग्नि छोडदेनेसे और अक्रिय होजानेसे कोई पुरुष योगी वा सन्न्यासी नहीं

होसकता । वरु कर्मकरतेहुए कर्मका फल परित्यागकरे। फलोंके सन्न्याससे तो वह सन्न्यासी है और ईश्वर-प्राप्तिकेलिये योग करताहुआ योगी है।

भगवान्का मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि **बहिरंगसाधन** में जैसे निष्कामहो, वैसेही **अन्तरंगसाधनमें** प्रवेश करनेसे पहले निष्कामतत्त्वका स्मरण करलेवे । जैसे किसी नरेशका भृत्य वा अमात्य जब उस नरेशके समीप जाता है तो दर्पणमें देखकर बडी चतुराईके साथ पगडी, चादर इत्यादि भलीभांति सुधारलेता है। पर राजमंदिरमें प्रवेश करनेसे पहले द्वारपर फिर एकबार हाथोंसे पगडी और चादरको सुधार लेता है। इसी प्रकार भगवान् अधिकारीको यह चेताते हैं, कि जैसे तुमने निष्कामकर्मको बहिरंगसाधनमें सुधारा है, अब अन्तरंगसाधनमें अर्थात् भगवत्—मन्दिरमें प्रवेश करते समय फिर उसी निष्कामतत्त्वको वैसे ही सुधारलो। अर्थात् कामनारहित होकर प्रवेश करो!

जैसे राजमन्दिरके भीतर मणि-माणिकसे जडीहुई बहुतेरी वस्तु पडीरहती हैं । इसी प्रकार भगवत्के अन्तःपुरमें भी अद्भुत और अलौकिक शोभायें पडी हैं । ऐसा न हो, कि तुम वहां ही लुभाजाओ! अटक जाओ! क्योंकि वहां लुभाजाओगे तो लुभाते ही चलेजाओगे । फिर तो भगवत्के सिंहासनतक पहुँचना ही दुर्लभ होजावेगा। इसलिये भगवान् इस अध्यायके आरंभमें ही "**अनाश्रितं कर्मफलम्**" वाक्यका प्रयोग करके तुमको सावधान करदेते हैं, कि तुम्हारे कर्मोंका फल ब्रह्मलोकके सुखोंकी प्राप्ति भी क्यों न हो

तुम उसे परित्यागकरोगे, तब ही तुम सच्चे सन्न्यासी और सच्चे योगी कहे जाओगे ॥ १ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंकाकी, कि भगवन् ! श्रुति स्मृतियां जिस निरग्नि और अक्रियतत्त्वको सन्न्यासकरके प्रसिद्ध करती हैं उसे आप सन्न्यास क्यों नहीं कहते हो ?

इसके उत्तरमें भगवान् फिरे एकवारे गुणवृत्तिकरके सन्न्यास और योगकी एकता दिखलातेहुए कहते हैं—

मू०— यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसन्न्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २

पदच्छेदः— पाण्डव ! (हे अर्जुन !) यम् (सर्वकर्म-तत्फलपरित्यागलक्षणम्) सन्न्यासम् (परमार्थसन्न्यासम्) इति (अनेनाभिधानेन अनेनोपाधिना) प्राहुः (श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणानि निरूपयन्ति संशन्ति वा) तम् (सन्न्यासम्) योगम् (फलाभिसन्धिरहितकर्मानुष्ठानलक्षणम्) विद्धि (जानीहि) हि (यस्मात्) कश्चन (कश्चिदपि) असंन्न्यस्तसंकल्पः (अपरित्यक्तः फलविषयसंकल्पोऽभिसंधिर्येन सः) योगी (कर्मयोगी । समाधानवान् । अविक्षिप्तचित्तः । चित्तवृत्तिनिरोधे समर्थः) न (नहिं) भवति (भवितुमर्हति) ॥ २ ॥

पदार्थः— (पाण्डव !) हे पाण्डुका पुत्र अर्जुन ! (यम्) जिस कर्मफलके परित्यागको (सन्न्यासम्) परमार्थ-सन्न्यास

कहते हैं (तम्) उसीको (योगम्) फलाभिसंधिरहित कर्मानुष्ठानरूप योग (विद्धि) जान ! (हि) क्योंकि (कश्चन) कोई भी (असन्न्यस्त संकल्पः) बिना कर्मोंके फलोंके संकल्प त्यागे (योगी) समाहितचित्तवाला योगी (न भवति) नहीं होसकता है ॥ २ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अर्जुनके पूर्व प्रश्नका उत्तर देतेहुए कहते हैं, कि [**यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव**] हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! जिसे सन्न्यासी कहते हैं, उसे ही योगी भी जान! अर्थात् जो योगी है वही सन्न्यासी भी है। सन्न्यास और योगको बालबुद्धिवाले अज्ञानी दो मानते हैं परजो ज्ञानी हैं वे दोनोंको एक समान मानते हैं। तथा सांख्य और योगको जो मनुष्य एक करके देखता है वही यथार्थ दृष्टिवाला है। फिर उसे दृढ करनेकेलिये तुझसे कहता हूं, कि जिस तत्त्वको श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण, इतिहास तथा वेदविद्, तत्ववेत्ता, ज्ञानी तथा सम्यग्दर्शी सन्न्यास ऐसा कहकर पुकारते हैं तू उसीको योग जान ! क्योंकि सन्न्यास और योगमें अन्तर कुछ भी नहीं है। जैसे किसी राजकुमारको युवराज कहते हैं पर वह युवराज यथार्थमें राजा ही है। उसके रोम चर्मादि सातों धातु राजाके ही रोमचर्मादिका बिम्ब है। राजाके आत्मत्वमें जो कुछ चमत्कार है सो उसमें भी है। पिताके ही दैविक और आत्मिक गुणोंका पुत्र है। इसलिये आत्मज कहाजाता है। जितना अन्तर युवराज और राजा में है उतना ही अन्तर योगी और सन्न्यासीमें है। जितना अन्तर बीज और वृक्षमें है उतना ही अन्तर योगी और सन्न्यासीमें है।

जैसे बीजमें सम्पूर्ण वृक्षका संस्कार सूक्ष्म-रूपसे बनाहुआ रहता है ऐसे ही योगीमें सन्न्यासका संस्कार सूक्ष्म-रूपसे बना रहता है। क्योंकि इस संसारमें तीन प्रकारके प्राणी हैं— प्रथम जो संसारको ही मुख्य मानते हैं विषय-सुखको ही सुख जानते हैं, उसके परिणामकी ओर दृष्टि नहीं करते और मतवालोंके समान विषयके मदसे माते फिरते हैं। इस कारण अन्तमें नरकगामी होजाते हैं और यम-दण्डोंसे पीडित कियेजाते हैं।

दूसरे वे जो संसारकी ओर भी दृष्टि रखते हैं और परलोककी ओर भी ध्यान रखते हैं। संसारको गौण और परलोकको मुख्य सम-समझते हैं। वे पथिकोंके समान इस संसारको **उत्तरणस्थान** (सराय) समझते हैं और अपने कुटुम्बियोंको मार्गका संगी समझकर उनसे संग करतेहुए शरीर-यात्राकी समाप्ति करते हैं।

तीसरे वे हैं जो संसारको एकबारगी मिथ्या जानकर त्यागकी इच्छा रखते हैं तथा तिस त्यागकी पूर्त्ति निमित्त महात्माओंका संग करते हैं और उनके उपदेशसे कर्मयोगमें प्रवृत्त होते हैं। उनके हृदयमें त्यागका अंकुर बना रहता है। वे सन्न्यास धारण करें वा न करें सन्न्यासी ही हैं। जैसे बरगदका बीज बरगद ही है, बरगदसे इतर कुछ भी नहीं है ऐसे कर्मयोगी भी सन्न्यासी ही हैं इतर कुछ नहीं।

इसी तात्पर्यसे श्री आनन्दकन्द व्रजचन्द कहते हैं, कि [**न ह्यसन्न्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन**] जब तक कोई प्राणी कर्मफलके संकल्पोंका त्याग न करे तब तक योगी नहीं

होसकता । नाना प्रकारके विषयोंके संकल्प जब तक मनमें बने रहते हैं तब तक वह घोर संसारी आवागमनका अर्थात् बारम्बारे जन्मने और मरनेका पात्र बनारहता है, योगी नहीं होसकता । जब फलका त्याग होजाता है तब कर्म-बन्धनका कारण छूटजानेसे संसारी न होकर सन्न्यासीके ही समान रहता है। क्योंकि सन्न्यासीने भी प्रवृत्ति-मार्गमें फँसनेका मुख्य कारण जो फल-सहित कर्म है तिसे त्याग दिया है। और योगीने भी अपनी चित्त-वृत्तियोंको निरोध करनेके निमित्त कर्म-फलके संकल्पका त्याग किया है। इसलिये दोनों, समान हैं। क्योंकि योगी यदि संकल्पोंका त्याग नहीं करेगा तो उसके चित्तमें चंचलता बनी रहेगी और वह विक्षिप्त रहेगा। विक्षिप्त होनेका कारण ही कर्मफलका संग्रह है। इसलिये फल त्याग होते ही चित्तकी समाधानता प्राप्त होती है। ज्यामिति शास्त्रवालोंका सिद्धान्त है, कि जो दो वस्तु एक वस्तुके समान होंगी वे सब आपसमें समान होंगी। इस लिये चित्त विक्षिप्त करनेवाले कामके संकल्पोंके परित्याग करनेसे योगी और संन्यासी एक समान हैं। यदि चित्तको विक्षिप्त करनेवाली दशाएँ किसीमें वर्त्तमान रहीं तो न वह योगी है और न सन्न्यासी है। चित्तको विक्षेप करनेवाली नव दशायें हैं उन्हींके अन्तर्गत अविरति है जिससे विषयोंकी इच्छा उत्पन्न होती है। साधकोंके हितार्थ ६ प्रकारकी विक्षेपकरनेवाली दशाओंका वर्णन करदिया जाता है—

"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्ते अन्तरायाः।" (पतं० पा० १ सूत्र३०)

अर्थ—१. व्याधि, २. स्त्यान, ३. संशय, ४. प्रमाद, ५. आलस्य, ६. अविरति, ७. भ्रान्तिदर्शन, ८. अलब्धभूमिकत्व और ६. अनवस्थितत्व ये नव प्रकारके विक्षेप हैं जो चित्तको चंचल कर योगियों या सन्न्यासियोंकी उन्नतिके मार्गमें अन्तराय अर्थात् विघ्न कारक हैं। अब इनका विलग विलग वर्णन किया जाता है—

१. व्याधिः– "धातुवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिः" धातुकी विषमताके कारण ज्वरादि रोगोंका उत्पन्न होना।

२. स्त्यानः— "अकर्मण्यता चित्तस्य" चित्तमें कर्मकरनेकी इच्छा न होना।

३. संशयः— "उभयकोट्यालम्बने विज्ञानम् यथा योगः साध्योऽसाध्यो वेति" दोनों ओर आलम्बन करना अर्थात् हां, ना के मध्यमें चित्तका डांवाडोल होना। जैसे चित्तमें यह द्विविधा उत्पन्न होनी, कि योग मुझसे साध्य है वा नहीं।

४. प्रमादः— "अननुष्ठानशीलतासमाधिसाधने औदासीन्यम" समाधिके साधनमें उदासीनताका होना अर्थात् चित्तका न लगना।

५. आलस्यम्— "कायचित्तयोर्गुरुत्वं योगविषये प्रवृत्त्यभाव हेतुः" शरीर और मनका भारी होजाना जो योग-क्रियामें प्रवृत्तिके न होनेका मुख्य कारण है।

६. "अविरतिः— "चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मागर्द्धः" अर्थात् नाना प्रकारके विषयोंमें स्पृहा होनी।

७. भ्रान्तिदर्शनम्— " शुक्तिकायां रजत्ववद्विपर्ययज्ञानम् " जैसे सीपीमें चांदीका भ्रम होता है इस प्रकार ज्ञानका विपर्यय होना अर्थात् जो न हो, तैसा समझना ।

८. अलब्धभूमिकत्वम्— " कुतश्चिन्निमित्तात् समाधिभूमेर-लाभः " किसी कारणसे समाधि भूमिकाका लाभ न होना—

९. अनवस्थितत्वम्— " लब्धायामपि समाधिभूमौ चित्तस्य तु तत्राप्रतिष्ठा " समाधिकी भूमिका लाभ होने पर भी चित्तका वहां नहीं ठहरना ।

रजोगुण और तमोगुणके प्रभावसे योगमें चित्तके चंचल करने वाले ये नव प्रकारके विक्षेप हैं । इन नवों विक्षेपोंमें श्री आनन्दकन्द व्रजचन्द्रने केवल इस श्लोक में एक अविरति रूप विक्षेप दिखानेके लिये " न ह्यसन्न्यस्तसंकल्पः" वाक्यका प्रयोग किया है ।

शंका— भगवान् अर्जुनके प्रति बारंबार इसी एक विषयका कथन क्यों करते हैं ? क्या एक ही विषयको पुनः-पुनः कथन करना पुनरुक्ति दोष नहीं है ?

समाधान— भगवानका कथन ऐसा सूक्ष्म है, जिसके यथार्थ मर्मको साधारण व्यक्ति नहीं समझ सकता । उनके मुखारविन्दसे निकले हुए रहस्योंको समझनेकेलिये कुशाग्रबुद्धिवाला होना चाहिये । इस स्थानपर जो कर्म्मोंके फलके त्यागका विषय कहरहे हैं और इस से पूर्व जो तीसरेसे पांचवे अध्याय तक इसी कर्म्मफलत्यागके विषय

कथन करचुके हैं इन दोनोंमें अवश्य थोडा अन्तर है। जिसे पाठकों के बोध निमित्त यहां संक्षिप्त रूपसे दिखला दिया जाता है—

पिछले अध्यायोंके भिन्न श्लोकोंमें भगवानने कर्म्मफलका त्याग, कर्म्मोंके कर्त्तृत्वाभिमानका त्याग, कर्मोंके फलोंमें आसक्तिका त्याग, विषयभोगके निमित्त नाना प्रकारके यत्नोंके करनेका त्याग तथा तिनकी प्राप्ति निमित्त परिग्रहोंका त्याग और तिन विषयोंकी संगतिका त्याग इत्यादि कथन करे चुके हैं, परं इस श्लोकमें उन कर्म्मोंके फलोंकी प्राप्तिमें संकल्पमात्रका त्याग, कथन कररहे हैं।

इस सूक्ष्मताको केवल बुद्धिमान् और विद्वान ही विचार सकते हैं। साधारणको इतना विचार करनेकी शक्ति नहीं होसकती इसलिये साधारण प्राणियोंको भगवान्के वचनमें पुनरुक्तिका भ्रम होता है, विद्वानोंको नहीं।

दूसरी बात यह है, कि इस ग्रन्थका नाम गीता है। गीता शब्द का अर्थ है (गीयतेस्म आत्मविद्योपदेशात्मिका ब्रह्मतत्वोपदेशमयी कथा यत्र। " गै + क्त) अर्थात् आत्मतत्वके उपदेशसे युक्त ब्रह्म तत्त्वोपदेशमयी कथा जिसमें गायी जावे उस ग्रन्थको गीता कहते हैं।

अब बुद्धिमान् विचारें, कि जितने गीत गायेजाते हैं सबोंमें उस गीतका एक ध्रुव होता है। गानेवाला एक एक पदको समाप्त करता हुआ बारंबार उसी ध्रुवपर पहुंचकर पदकी समाप्ति करता है। गीतका सारांश उस ध्रुवपर आटिकता है। यदि वह ध्रुव बार-बार

गाया न जावे तो उस सम्पूर्ण गीतका अर्थ सुननेवालोंकी समझमें कदापि न आवे। इसी प्रकार भगवान् इस गीता रूप गीतमें आत्म-तत्व और ब्रह्म-तत्वके भिन्न विषयोंका गान करते हुए उसी अपने ध्रुवपरं आपहुंचते हैं। सो ध्रुव क्या है ? सुनो! [**अनाश्रितं कर्मफलम् कार्य्यं कर्म करोति यः**] कर्मके फलोंसे अनाश्रित होकर तथा निरासक्त और निरभिमान होकर जो कर्म करना है बस यही इतना इस गीता ग्रन्थके प्रथमषट्कका ध्रुव है, अर्थात् सार है। तथा भगवत्के चरणारविन्दमें सब कर्मोंके फलोंको समर्पण कर निष्काम-भक्तिका सम्पादन करना सम्पूर्ण गीताका ध्रुव है। इस लिये भगवान् पुनः-पुनः इसी ध्रुवपर आपहुंचते हैं। जब-जब कोई अध्याय समाप्त होकर दूसरेका आरम्भ होता है तब-तब इसी निष्काम-कर्म्मको दिखलादिया करते हैं। जैसे अध्याय २ में श्लो० ५५, ७१. अध्याय ३ में श्लो० ६, १६, २५, ३०. अ० ४ में श्लो० १६, २०, २३. अ० ५ में श्लो० १०, १२, १३, २१. अ० ६ में श्लो० १, ४, १८, २४। ये सब स्थान इस प्रथमषट्कमें गीता रूप गानके ध्रुव हैं। विद्वान् इन श्लोकोंको विचारपूर्वक पढकर समझ लेवेंगे ॥ २ ॥

इतना सुनकर अर्जुनने पूछा भगवंन् ! कर्मयोगकी कहीं भी तो समाप्ति होगी ? अर्थात् कर्मयोग जो सन्यासकी गौणवृत्ति है कहीं न कहीं तो शुद्ध सन्न्यासको प्राप्त करावेगा ? सो कृपाकर कहो, कि यह योग कहां जाकर अवधिको पाता है ?

इतना सुन भगवान् बोले !

मू०— आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

पदच्छेदः—योगम् (यमनियमादयोऽष्टांगयोगम् । ध्यानयोगम वा) **आरुरुक्षोः** (आरोढुमिच्छोः) **मुनेः** (मननशीलस्य) **कर्म** (फलाभिसन्धिरहितं कर्म) **कारणम** (साधनम) **उच्यते** (वेदमुखेन मया कथ्यते) **तस्य, योगारूढस्य** (प्राप्तध्यानयोगस्य । योगांगानुष्ठानप्रवृत्तस्य) **एव** (निश्चयेन) **शमः** (सर्वकर्मभ्यो निवृत्तिसन्न्यासः) **कारणम्** (मोक्षस्य साधनम्) **उच्यते** ॥३॥

पदार्थः— (**योगम्**) यमनियमादि अष्टांगयोग अर्थात् ध्यानयोगपर (**आरुरुक्षोः**) चढनेकी इच्छाकरनेवाले (**मुनेः**) मुनिकेलिये (**कर्म**) निष्कामकर्मका सम्पादन करना (**कारणम्**) साधनरूप (**उच्यते**) कहागया हे पर (**तस्य**) तिस (**योगारूढस्य**) योगपर आरूढ होगयेहुएकेलिये (**एव**) निश्चयकरके (**शमः**) सब कर्मोंसे उपशम अर्थात् निवृत्ति होजाना (**कारणम**) मोक्षका साधनरूप (**उच्यते**) कहागया है ॥ ३ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से प्रश्न किया है, कि कहीं भी तो कर्मयोगकी अवधि होगी ? जहांसे प्राणी सन्न्यासका अधिकारी होगा । इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते**] इस अष्टांगयोग अर्थात् ध्यानयो-

गकी इच्छा करनेवाले मुनियोंकेलिये निष्कामकर्मोंका करना ही साधन-रूप कहागया है; अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्तकर संसारसे वैराग्य प्राप्तकर भगवान्के स्वरूपमें ध्यानलगानेकी इच्छा करनेवालोंकेलिये तथा ईश्वरकी ओर आनेकेलिये कर्म ही, कारण अर्थात् साधन कहा-गया है। इसलिये गुरुओंको चाहिये, कि ऐसे पुरुषोंको निष्कामक-र्मोंका साधन उपदेश करें। क्योंकि निष्काम-कर्मसाधनसे ही धीरे-धीरे त्यागका अंकुर शुद्ध अन्तःकरणमें उत्पन्न होता है। जैसे किसी कोठेपर चढनेकेलिये सोपान (सीढी) बनायाजाता है, उस सीढीमें पांव रखनेकेलिये दण्ड लगायेजाते हैं, फिर जिस किसीको सीढीपर चढना सिखलायाजाता है उसे पहले सबसे नीचेवाले दण्डपर दोनों पैरोंका रखना सिखलाते हैं, एक पैरसे अगले दण्डको ग्रहणकरना और पिछलेको त्यागते ऊपरकी ओर चढना बताते हैं। इसी प्रकार विषयग्रस्त प्राणीको जब विषयोंसे रुचि कम होती है और उसका चित्त ईश्वरकी ओर झुकता है तब उसको पहले तमोगुण और रजोगुणके दण्डोंको त्यागकरा सत्वगुणकी अधिरोहिणी सीढीपर चढाते हैं, फिर इन सत्व-गुणी कर्मोंके फलोंको भी त्यागकर निष्कामकर्मके दण्डपर चढा लेजाते हैं। एवम् प्रकार निष्कामकर्मोंके साधन द्वारा उसके चित्तको स्वच्छ और निर्मल बना ध्यानयोगपर चढजानेका अधिकारी बनादेते हैं।

जब एवम् प्रकार ध्यानयोगपर चढगया तब गुरुओंको चाहिये, कि प्राणियोंको उपासना और ज्ञानके दण्डोंपर चढातेहुए ब्रह्मानन्दके प्रासाद पर बैठा स्थिर करदेवें। जब एवम प्रकार प्राणी योगारूढ होजाता है अर्थात् योगमें ब्रह्मानन्दके छतपर बैठ जाता है, तब [**योगारूढस्य**

तस्यैव शमः कारणमुच्यते] तिस योगारूढ-पुरुषकेलिये वेदशास्त्रों ने शमहीको साधन बताया है अर्थात् प्रपंचके उपशम होजानेसे सर्वप्रकारकी क्रियाओंकी निवृत्तिके पश्चात् जितने काम्यकर्म हैं सबोंका त्याग जो सन्न्यास, उसीको मोक्ष प्राप्तिका साधन बताया है । तब प्राणी एवम् प्रकार सब उपद्रवोंसे रहित हो भगवत्स्वरूपके ध्यानमें मग्न होकर सुखी हो शान्त पूर्वक बैठरहता है । इस विषयको भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि " **सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी** " (देखो अ० ५ श्लो० १३)

अर्जुनने जो प्रश्न कियाथा, कि निष्काम-कर्मयोगकी कहीं अवधि है वा नहीं ? तिसका उत्तर भगवानने स्पष्टकर देदिया, कि जब तक प्राणी आरुरुक्षु है अर्थात् योगके प्रासादपर चढनेकी इच्छा करता है पर चढ नहीं सकता तब तक कर्मोंकी आवश्यकता है और जब योगारूढ होगया अर्थात् समाधिस्थ होगया तब उसे फिर किसी कर्मके करनेकी आवश्यकता नहीं रहती, कर्मोंसे एक बारगी छुटकारा पाजाता है ।

शंका— वेदकी तो यह आज्ञा है, कि (**यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति**) जब तक जीवे तब तक हवनादि करता रहे । पर भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि " **समः कारणमुच्यते** " योगारूढके लिये क्रियाकी निवृत्ति ही कारण है, सो वेदविरुद्ध होता है । ऐसा क्यों ?

समाधान—यह वेदका वचन साधारण कर्मकाण्डियोंके लिये है, पर जो कर्मकाण्डकी समाप्ति कर ध्यानयोगका अधिकारी होगया है उसके लिये नहीं है। और भगवान् जो " **समः कारणमुच्यते** "

कहरहे हैं सो ध्यानयोगके अधिकारियोंके लिये कहरहे हैं। शंका मत करो !

श्यामसुन्दर अर्जुनको उपदेश कररहे हैं, कि कर्मोंके साथ झगडना अर्थात् कर्मोंके साथ युद्ध करना तब ही तक है जब तक मनुष्य ध्यानयोगमें स्थिर नहीं हुआ है, पर जब ध्यानयोगरूप अपने स्थानमें आपहुंचता है, तो फिर उसे कर्म करनेका क्लेश नहीं उठाना पडता। इसी विषयको श्रुतिने इन्द्र और असुरोंके युद्धका दृष्टान्त देकर दिखलाया है। सो सुनो !

श्रु०— ॐ स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानम् न विजज्ञौ तावदेनमसुरा अभिबभूवुः स यदा विजज्ञेथ हत्वाऽसुरान्विजित्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति तथो एवैवं विद्वान् सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद य एवं वेद" (कौषीतक्युपनिषत् अ० २ खं २० में देखो)।

अर्थ— इन्द्र जो सर्वदेवाधिपति है जब तक इस आत्माको नहीं जानता तब तक उसे असुर लोग पराजय करलेते हैं। पर जब वह आत्माको जानलेता है तब सब असुरोंको मारकर सब देवोंका श्रेष्ठत्व जो अपना राज्यपद उसे लाभ करता है। इसी प्रकार यह योगारूढ पुरुष सब पापोंको हनन कर अर्थात् कर्मबन्धनोंको काटकर सब भूतोंका श्रेष्ठत्व जो अपना स्वरूप तिसे प्राप्त करता है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि योगारूढ-प्राणीको ही शम लाभ होता है, अर्थात् सर्व प्रकारके प्रपंचोंसे उपशम होकर कर्मोंकी निवृत्ति प्राप्त

होती है। क्योंकि केवल अन्तःकरणकी शुद्धि पर्यन्त कर्मोंकी आवश्यकता है फिर कुछ प्रयोजन नहीं है। इस श्लोक द्वारा भगवान्‌ने अर्जुनको पूर्ण प्रकार समझा दिया, कि केवल ध्यानयोगकी प्राप्ति तक ही कर्मोंके सम्पादन करनेकी आवश्यकता है ॥ ३ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! यह कैसे बोध होगा, कि यह प्राणी योगारूढ होगया और अब इसे कर्मोंकी आवश्यकता नहीं है? सो कृपाकर कहो!

मू०— यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्प सन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

पदच्छेदः— यदा (यस्मिन्काले) हि (निश्चयेन) न (नहि) इन्द्रियार्थेषु (रमणीयेषु विषयेषु) न (नैव) कर्मसु (नित्यनैमित्तिककाम्यप्रतिसिद्धेषु । विषयप्राप्तिसाधनेषु वा) अनुषज्जते (अभिनिवेशं करोति) तदा (तस्मिन्काले) सर्वसंकल्पसन्न्यासी (इदम्मया कर्त्तव्यमेतत्फलं भोक्तव्यमित्येवं रूपाणां मनोवृत्तिविशेषाणां त्यागशीलः) योगारूढः (प्राप्तध्यानयोगः) उच्यते (कथ्यते) ॥ ४ ॥

पदार्थः— (यदा) जब ही अधिकारी पुरुष (हि) निश्चय करके (न) न तो (इन्द्रियार्थेषु) नाना प्रकारके रमणीय विषयोंमें (न) न (कर्मसु) नाना प्रकारके कर्मोंमें (अनुषज्जते) आसक्त होता है (तदा) तब ही वह मनुष्य (सर्वसंकल्पसन्न्यासी) सर्व प्रकारके

संकल्पोंको त्याग अलग होजानेवाला (योगारूढः) योगमें आरूढ-हुआ (उच्यते) कहाजाता है ॥ ४ ॥

भावार्थः— अर्जुनके पूछने पर भगवान् योगारूढ पुरुषका लक्षण बताते हैं, कि [यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते] जब प्राणी न तो विषयोंमें, न कर्मोंमें लिप्त होता है अर्थात् प्राणीका स्वभाव ही ऐसा होजाता है, कि चाहे कोई प्राणी सहस्रों सुन्दर रमणीय विषयोंको उसके सम्मुख क्योंन करदेवे पर वह अचल पर्वतके समान अपने स्थानसे नहीं टलता, विषयकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखता और मायाके प्रलोभनमें नहीं पडता तब जानना चाहिये, कि यह अवश्य योगारूढ महात्मा है । फिर कहते हैं, कि उस विषयकी प्राप्ति निमित्त नाना प्रकारके साधनोंमें भी जो नहीं लिपटता अर्थात् न तो उसको विषयोंमें आसक्ति होती है, न उस विषय

टिप्पनी— जैसे राजा जयवलि के समीप गौतम पंचाग्नि-विद्या पूछने गये तब जयवलि ने कहा " वित्तस्य नरं वृणीथा इति " स होवाच तथैव राजन् ! मानुषं वित्तम् (छा० उत्तरार्द्ध प्रपा० ५ श्रुति ६)।

अर्थ— जयवलिने गौतमसे कहा, तुम जितनी सम्पत्ति चाहो मुझसे मांगो जितनी मांगोगे कोटावधि मैं देनेको तैयार हूं। इतना सुन गौतम जो योगारूढ महात्मा हैं बोले हे राजन् ! तुम्हारा यह जो मानुषीवित्त है सो सब तुम्हारा है तुम्हींको रहे, मैं कुछ नहीं चाहता। इसी प्रकार जब रंभा नाम अप्सराने शुकदेवके समीप जा अपनी ओर मोहित करनेके लिये नाना प्रकारके यत्न किये तब शुकने उसे अपने स्थानसे दूर भगा ही दिया तनक भी उसकी ओर न देखा ।

की प्राप्ति निमित्त किसी प्रकारके कर्म करनेकी रुचि रखता है तथा जो नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रतिसिद्ध चारों प्रकारके कर्मोंसे भी कुछ संग नहीं रखता अर्थात् अविद्या-माया और विद्या-माया दोनोंसे वैराग्य प्राप्त कर किसीमें आसक्त नहीं होता, तब जानना चाहिये, कि यह पुरुष अवश्य योगारूढ है ।

भगवानने जो यहां " अनुषज्जते " पदका प्रयोग किया है तिससे अत्यन्त सूक्ष्म अर्थका अनुभव होता है अर्थात् 'संग' और 'अनुषंग' इन दो पदोंमें जो अन्तर है उसे स्पष्ट करदिया है सो कहते हैं— अन्तःकरणसे किसी विषयमें अथवा विषयकी प्राप्ति निमित्त किसी कर्म में प्राणीका एक बारगी लगजाना तो संग कहाजाता है और जब कभी उनका संग छोडता है, तो कुछ काल तक अन्तःकरणमें उस संग का संस्कार पडजानेके कारण जो अभ्यास अर्थात थोडी-थोडी स्मृति बनी रहती है उसे अनुषंग कहते हैं । जैसे किसी दीपकके बुझजाने के पश्चात् जो थोडी देर तक उस बत्ती पर लाली देखपडती है, सो अग्निका आनुषंगिक अभ्यास है ।

मुख्य अभिप्राय भगवानके कहनेका यह है, कि जब प्राणी विषयोंको वा उनके कर्मोंको त्यागता है तब यहांतक त्यागे, कि उनकी किंचित्मात्र भी स्मृति अन्तःकरणपर न रहे, तब वह योगारूढ कहाजावेगा । सो भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि "**रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते** " (अ० २ श्लो० ५९ में देखो) फिर भगवान् कहते हैं, कि जो प्राणी विषयोंसे भी दूर है तथा उनकी प्राप्तिका

उपाय भी कुछ नहीं करता है पर किसी–किसी समय ऐसा संयोग आप ड़ता है, कि जब उसके नेत्रोंके सामने मेरी दुर्जया माया आ खडी होती है तब उससे मोहित हो उसकी प्राप्तिका संकल्पकर बैठता है सो संकल्प विक्षेप उत्पन्न करता है । इसलिये भगवान् कहते हैं, कि [**सर्वसंकल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते**] जब प्राणी माया के सम्मुख सर्वप्रकारके संकल्पोंका त्यागी होजाता है, उसकी प्राप्तिकी कुछ भी परवा नहीं करता तब ही वह योगारुढ कहाजाता है। अर्थात् श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण तथा ब्रह्मवेत्ता, महात्मा उसीको योगारूढ कहते हैं । इनही लक्षणोंसे **योगारूढ** की पहचान कीजाती है। यहां भगवान्ने आधे श्लोकमें "**सर्वसंकल्पसन्न्यासी**" कहकर सब कर्मोंका मूल काटकर फेंकदिया, क्योंकि सर्व कर्मोंका मूल संकल्प ही है बिना संकल्पके कोई कर्म नहीं होता । मन भी इसी संकल्पके अधीन होकर कर्मोंमें प्रवेश करता है । प्रमाण श्रु०–"**ॐ संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यथ वाचमीरयति**" (छां० उत्तरार्ध० प्र० ७ खं० ४ श्रु० १ में देखो)

अर्थ— संकल्प मनसे श्रेष्ठ है अर्थात् संकल्प जो कर्तृत्वसम्बन्धी अन्तःकरणकी वृत्ति है, जिससे मनमें यह विचार उठता है, कि अब कर्म करना चाहिये, सो संकल्प मनसे श्रेष्ठ है। क्योंकि संकल्पके पश्चात् मन किसी कर्मकी पूर्त्ति करनेका विचार करता है । जैसे पहले अध्ययनका संकल्प उठा फिर विचार हुआ, कि अब अध्ययन करना चाहिये तिसके अनन्तर वाणी अध्ययन करनेको समर्थ होती है । अर्थात् कर्म आरंभ होता है ।

इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, कि सर्वकामनाओंका मूल यह संकल्प ही है। तहां मनु भी कहते हैं– " संकल्पमूलः कामोवै यज्ञः संकल्पसंभवः। " (मनु० अ० २ श्लो० २ में देखो) इसलिये जितने संकल्पज-कर्म हैं सब बन्धनके कारण हैं। अतएव भगवान् कहते हैं, कि जो सर्वसंकल्पसन्न्यसी है वही यथार्थ योगारूढ है। इसलिये यहां स्वाभाविक कर्मोंको छोड जितने संकल्पजकर्म हैं, उनका त्याग योगारूढ-पुरुषोंसे ही होता है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जैसे घोर सुषुप्तिमें सोजानेवाला संसारमात्रकी सुधि नहीं रखता ऐसे योगारूढ प्राणी कामनारूप संसारसे मानो घोर सुषुप्तिमें सोजाता है, पर ब्रह्मानन्दके सूर्य्यसे उस का अन्तःकरण प्रकाशमान रहता है। इसलिये तुरीयानन्दको भोगता रहता है, यही योगारूढकी पहचान है।

प्रश्न— जो विषय मनके खींचनेमें अत्यन्त प्रबल है उसका संकल्पमात्र मिटना कैसे संभव है? और योगारूढ प्राणियोंका संकल्प क्यों और कैसे मिटजाता है ?

उत्तर— यदि किसी प्राणीके पास एक साधारण रूपेका कंकण हो और दूसरा मनुष्य उससे यह कहे, कि यदि तुम यह अपना कंकण नदीके मांझधारमें फेंकदो, तब मैं यह दूसरा हीरोंसे जडा हुआ स्वर्णका कंकण जो मेरे पास है तुमको देदूंगा। इतना सुनते ही वह प्राणी झट अपना कंकण जलमें फेंकदेगा। इसी प्रकार प्राणी जब योगारूढ होकर उस परमानन्दमय भगवत्स्वरूपकी मनोहरताको देखता है तब इस विष-

यकी मनोहरताको झट परीत्याग करदेता है। उस विषयका संकल्पमात्र भी उसके चित्तमें नहीं रहता। श्रु०— "ॐ यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषम् ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमम् साम्यमुपैति ॥" (मुं० ३ खं० १ श्रु० ३)

अर्थ— जब विद्वान् रुक्मवर्ण अर्थात अत्यन्त सुहावना स्वर्णके समान चमकता हुआ मनको मोहनेवाला परम आनन्दस्वरूप कर्त्तारको जो ईश है, जो ब्रह्मयोनि है और जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है उसे देखता है तब सर्व प्रकारके पाप पुण्य कर्मोंको जो विषयमें बांधनेवाले हैं त्यागकर परम समताको अर्थात अद्वैत स्वरूप परम शान्तिको प्राप्त होजाता है। इसी विषयको फिर दूसरी श्रुति कहती है।

"ॐ सम्प्राप्यैनं ऋषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः" (मुं० ३ खं० २ श्रु० ५में देखो) अर्थात इस परमानन्दमय भगवतस्वरूपको प्राप्त हो कृत्य-कृत्य होजाते हैं, "वितरागाः" सर्व प्रकारके विषयोंकी प्राप्ति छोडदेते हैं और इसी अपने परमानन्दमें शान्त होजाते हैं।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि परेमानन्दके देखते ही विषयानन्द फीका पडजाता है, फिरतो इसे कौन पूछता है? तबही जानाजाता है, कि यह प्राणी योगारूढ है ॥ ४ ॥

इतना सुन अर्जुनने प्रार्थनाकी— भगवन्! तुम्हारे मुखसरोजसे टपकते हुए ज्ञानामृतको पी-पीकर मैं कृत-कृत्य तो अवश्य होरहाहूं,

पर इतना और जानना चाहता हूं, कि एवम् प्रकार योगारूढ होनेकेलिये प्राणीको किससे सहायता लेनी पडती है ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

पदच्छेदः— आत्मानम् (संसारार्णवनिमग्नं स्वजीवम्) आत्मना (अभ्यासवैराग्ययुक्तया बुद्ध्या । विवेकादि सम्पन्नेन शुद्धान्तःकरणेन । विवेकयुक्तेन मनसा) उद्धरेत् (ऊर्ध्वं हरेत् विषयसंग परित्यागेन योगारूढतामापादयेत् । जडाशयात्पृथक्कुर्य्यात्) न [तु] आत्मानम् (स्वं जीवम्) अवसादयेत् (अधोनयेत् । संसारसमुद्रे मज्जयेद्वा ।) हि (यस्मात्) आत्मा, एव (निश्चयेन) आत्मनः, बन्धुः (संसारबन्धनान्मोचनहेतुः । हितकारकः) आत्मा, एव, आत्मनः, रिपुः (अपकारी शत्रुः) ॥ ५ ॥

पदार्थः— (आत्मानम्) संसारसमुद्रमें डूबेहुए अपने जीव को (आत्मना) अपने ही अभ्यास वैराग्यमय शुद्धान्तःकरणसे (उद्धरेत्) उद्धार करे (न, तु) न कि (आत्मानम्) अपनेको अपने आत्मा ही से (अवसादयेत्) नीचेको गिरा संसार-सागरमें बोरदेवे । (हि) क्योंकि (आत्मा) अपना ही आत्मा (एव)

Let self in man be raised by self
Let him not make a hell for self

निश्चय करके (आत्मनः) अपने आपका (बन्धुः) हितकारी है तथा (आत्मा) अपना ही आत्मा (एव) निश्चय करके (आत्मनः) अपने आपका (रिपुः) शत्रु है ॥ ५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे पूछा है, कि योगारूढ होनेकेलिये प्राणीको किसकी सहायता लेनी चाहिये ? उसके उत्तरमें श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्द अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**उद्धरेदात्मनात्मानम् नात्मानमवसादयेत्**] अपने ही आत्मासे अपने आत्माका उद्धार करे, न कि अपनेको अपने ही आत्मासे संसार-सागरमें डुबाकर गलादेवे । अर्थात् यह अपना जीव, जो अपने संचित-कर्मों के पछे पडाहुआ, बारम्बार चौरासी-लक्ष-योनियोंमें भटकता हुआ और संसारके अपार समुद्रमें सूखे तूम्बेके समान लहरोंके धक्के खाता हुआ इधर-उधर लुढकता फिरता है, उसे अपने ही आत्मासे उद्धार करे ।

अर्थात् अपने ही आत्माको अपना शिक्षक बनावे और उसीसे उपदेश लेवे । क्योंकि संसारकी रीति-भांतिको देखनेसे ही ऐसा बोध होता है, कि जब यह मनुष्य विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न करलेता है, किसीसे कुछ भी रंचकमात्र प्रयोज नहीं रखता, जब निष्काम होकर अपने कल्याणकेलिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय इत्यादि कर्मोंका सम्पादन करनेका अभ्यास करलेता है तब धीरे-धीरे इसको अपने अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त होजाती है । जब एवम् प्रकार शुद्धान्तःकरणवाला होजाता है तब उसमें आपसे आप विवेककी उत्पत्ति होनेलगजाती है। एवम् प्रकार उन्नति करते-करते परमपदको चढजाता है। इसलिये भगवान्

कहते हैं, कि अपने आप ही अपने पुरुषार्थ और परिश्रम द्वारा अपनी ही विवेकमयीबुद्धिसे अपना उद्धार करलेवे। अर्थात् इस घोर संसारसागर से अपनेको बाहर निकाललेवे और योगारूढ होकर परम धामपर चढ-जावे। तहां श्रु० " ॐ तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः। ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः॥ (श्वेताश्व० अध्या० १ श्रुति १०, ११में देखो)

अर्थ— जब प्राणी उस परमात्माके ध्यानसे और परमतत्वके भावसे जुडजानेसे अर्थात् ब्रह्मभूत होजानेसे उसकी विश्वमायाकी अर्थात् सुख-दुःख मोहात्मक प्रपंचकी निवृत्ति होजाती है, तब उस देवको जानलेनेसे सर्व प्रकारकी अविद्या रूप पाशोंका नाश हो जाता है। फिर तिस अविद्याके क्लेशोंकी निवृत्ति होनेसे उसके कार्य्य-भूत बारंबार जन्म और मरणका भी नाश होजाता है। एवम् प्रकार यह जीव ऊपर चढते२ योगारूढ होकर परमानन्दको प्राप्त हो सुखी होजाता है।

इसी विषयको भगवान इस श्लोकमें स्पष्ट रूपसे कहते हैं, कि अपने ही आत्मासे अपने आत्माका उद्धारकरे, अर्थात् धीरे-धीरे योगा-रूढ होताहुआ परमपदपर चढजावे। " नात्मानमवसादयेत् " ऐसा न करे, कि अपनेही आत्मासे अपने आत्माको नीचे गिरादेवें। अर्थात् भगवत्स्वरूपके ध्यानको छोड, योगकी सिद्धियोंमें पड, लोक-लोकान्तरोंके नाना प्रकारके ऐश्वर्य्यके भोगादिमें फंसकर, पूर्ण विषया-सक्त हो एक बारगी उस महाप्रभुको भूल भ्रष्ट न होजावे। क्योंकि जो प्राणी केवल कर्मफलद्वारा विषयकी ही प्राप्तिमें मग्न हो, विषयसुखहीमें फंस

रहेगा, तो वह अवश्य कालान्तरमें नीचे गिरना आरंभ करेगा। फिर तो गिरते-गिरते रसातलको पहुंच जावेगा। क्योंकि नीचे गिरना अत्यन्त सुलभ है, पर ऊपर चढना सुलभ नहीं है, दुर्लभ है। इसमें पुरुषार्थकी आवश्यकता है। पर्वतके शृंगपर चढना कठिन है पर गिरनेमें न तो कुछ यत्न है, न परिश्रम ही है। जहां गिरने लगा फिर तो मत पूछो! नाना प्रकारके पत्थरोंसे टकराता हुआ अंग-भंग हो, न जाने कहां जापडेगा कुछ ठिकाना नहीं। श्रु० " ॐ यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति॥ " (कठो० अ० १ वल्ली ३ मं० ७)

अर्थ—जो मनुष्य विज्ञानवान् नहीं होता, योगारूढ नहीं होता और अमनस्क होताहै अर्थात् समाहितचित्त नहीं होता, सदा अशुचि रहता है, नाना प्रकारके विषयोंमें मग्न रहकर अपनी इन्द्रियोंको अपवित्र रखता है अर्थात् वशीभूत न रखकर सदा चलायमान रखता है, काम क्रोध इत्यादिके पल्ले पड प्रपंचमें मग्न रहता है वह धीरे-धीरे नीचेको गिरता ही चलाजाता है, वह तो कभी भी उस परमपदको प्राप्त नहीं करसकता। इसी कारण भगवान कहते हैं, कि प्राणीको सावधान रहकर यत्न—पूर्वक अपने आत्माको गिरनेसे बचाना चाहिये। क्योंकि [आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः] यह अपना आत्मा ही अपने आपका बन्धु है, अर्थात् हितकारी है, सहायक है, सर्व प्रकार कल्याण करनेवाला है और इससे इतर कोई दूसरा भव—बन्धनसे छुडानेवाला नहीं है। इसलिये यही अपना सच्चा बन्धु है इससे इतर जितने बन्धु, बांधव, हित,

मित्र इस संसारमें हैं सब स्वार्थी हैं । अपने स्वार्थके साधन निमित्त ही दिखलाते हैं । यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, कि कोई किसीको प्रतिदिन दस पांच मुद्रा देता चलाजावे, पर एक दिन देना रोकदेवे तो उस दिनसे लेनेवाला देनेवालेकी निन्दा करता फिरेगा । इससे प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि कोई किसीका हित नहीं केवल अपना आत्मा ही अपना हित है । पुत्र, कलत्र इत्यादि जो कुछ हित करते हैं अपने ही आत्माके सुखकेलिये करते हैं, कोई किसी अन्यके लिये नहीं करता ।

इसी कारण भगवान कहते हैं, कि अपना आत्मा ही अपना बन्धु है तथा इसीके प्रतिकूल यह अपना आत्मा ही अपना महान शत्रु है । क्योंकि यदि इस आत्मा द्वारा शम दमादिका साधन नहीं होसका, आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति न होसकी, गुरु सेवा द्वारा भगवतस्वरूपका लाभ न होसका, प्राणियोंका उपकार न बनसका और वेदशास्त्रोंका अध्ययन कर तदनुसार आचरण कर संसारे बन्धनसे छूटनेका साधन न होसका, वरु इसके प्रतिकूल अहर्निश काम—क्रोधमें फंस नानाप्रकारके कलहोंमें असत्य, स्तेय (चोरी) जारी, मद्यपान, द्यूत (जूआ) इत्यादि भ्रष्ट कर्मोंमें समय बितातारहा तो जानो, कि उसने अपने आत्माको अपने आप नष्टकिया और अपना शत्रु बनालिया । ये जो वाह्यशत्रु बनजाते हैं यह भी अपने आत्माका ही दोष है। क्योंकि क्रोधादिके अधिक होनेसे तथा छल, कपट, प्रपंच, अन्याय इत्यादि दुष्टकर्मोंके बढजानेसे सबही शत्रु होजाते हैं । इसलिये यह सिद्धान्त कियाहुआ है; कि अपना आत्मा ही अपना शत्रु है । इसलिये अपना आत्मा अपने ही द्वारा उच्च

और नीच दशाको प्राप्तहोता है। अतएव प्राणीको चाहिये, कि आप अपने आत्मा द्वारा अपना उद्धार करे। अर्जुनने जो यह पूछा था, कि योगारूढ होनेकेलिये प्राणीको किसकी सहायता लेनीचाहिये इसके उत्तरमें भगवान्ने स्पष्टरूपसे कहदिया, कि योगारूढ होनेकेलिये प्राणी अपने ही आत्मासे अपनी सहायता लेवे।

शंका— भगवान् पहले कह आये हैं, कि "नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः" तथा "अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्य्योऽयमुच्यते॥" (देखो अ० २ श्लो० २४, २५) अर्थात् यह आत्मा नित्य है, सब ठौर है, स्थिर स्वभाव है, अचल है, सनातन है तथा अव्यक्त है, अचिन्त्य है और अविकार्य्य है ऐसा कहाजाता है। फिर जो एवम् प्रकार नित्य, अचल और अविकार्य्य इत्यादि गुणोंसे संपन्न शुद्ध बुद्ध है वह * उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति इन चार प्रकारकी क्रियाओंके फलवाला नहीं होसकता। फिर भगवान्ने ऐसा क्यों कहा, कि यह आत्मा ऊपर चढता है और नीचे गिरता है तथा बन्धु है और शत्रु है। इन विकारोंसे आत्माको युक्त करनेसे भगवान्के वचनमें पूर्वापरविरोध होता है, ऐसा क्यों?

समाधान— इसमें सन्देह नहीं, कि आत्मा सदा निर्विकार है, पर जिज्ञासुओंके समझानेकेलिये वेदान्तने भिन्न-भिन्न व्यवहारोंकी अपेक्षा, और इसके भिन्न-भिन्न अनेक नाम रखे हैं। मुमुक्षुओंको

* उत्पत्यादि विकृति संस्कृति रूपं चतुर्विधं क्रियाफलमात्मनि न संभवतीत्युक्तम्।
(नीलकण्ठः)

आत्मतत्त्वका भेद समझानेकेलिये वेदान्तने + आत्माके तीन मुख्य नाम रखे हैं। प्रमाण "**गौणमिथ्यामुख्यभेदैरात्मायं भवति त्रिधा**" (वेदान्त पञ्चदशी प्रकरण १२ श्लो० ३६ में देखो) अर्थात **गौणात्मा, मिथ्यात्मा और मुख्यात्मा** ये आत्माके तीन भेद हैं। इसलिये जिस-जिस व्यवहारमें जिस-जिस आत्माकी मुख्यता है तहां तिसकी प्रधानता है।

दृष्टान्तोंसे उक्त तीनों भेद दिखलायेजाते हैं—

१. **गौणात्मा**— " देवदत्तस्तु सिंहोयमित्यैक्यं गौणमेतयोः। भेदस्य भासमानत्वात् पुत्रादेरात्मता तथा" (पंचद० अ० १२ श्लो० ४०)

अर्थ— जैसे किसीने कहा, कि यह देवदत्त सिंह है यहां सिंह और देवदत्तकी जो एकता है सो गौण है। क्योंकि इन दोनोंका भेद प्रत्यक्ष देखाजाता है। इसी प्रकार भेदके भासमान होनेसे पुत्रादिकोंका आत्मा भी गौण है। क्योंकि पुत्र और पिता दोनोंका भेद प्रत्यक्ष देख पडता है।

२. **मिथ्यात्मा**— " भेदास्ति पंचकोशेषु साक्षिणं न तु भात्यसौ। मिथ्यात्माऽतः कोशानां स्थाणोश्चोरात्मता यथा" (पं० अ० १२श्लो०४१)

+ कोषोंसे देखाजाता है, कि आत्मा शब्दके अनेक अर्थ हैं जैसे **यत्न, धृति, बुद्धि, स्वभाव, ब्रह्म, देह, मन, पुत्र, जीव, अर्क, हुताशन** और **वायु** इत्यादि। भिन्न—भिन्न व्यवहारोंमें समय—समयपर आत्माके इन अर्थोंका व्यवहार कियाजाता है।

अर्थ— यह जो अन्नमयादि +पंचकोशवाला शरीर है सो मिथ्यात्मा है। जैसे कोई पुरुष रात्रिके समय मार्गमें चलते-चलते एक स्थाणु (टूटेहुए वृक्षका स्तम्भ) देखकर अनुमान करता है, कि चोर है, पर यथार्थमें वह चोर नहीं है ठूंठ है। इसी प्रकार अज्ञानी भ्रमवश होकर इस पंचकोशवाले शरीरको ही आत्मा समझता है और कहता है, कि मैं मनुष्यहूं, मैं गोराहूं, मैं कालाहूं, मैं काणा हूं, मैं बहिराहूं, मैं दुबला हूं, मैं मोटाहूं, इत्यादि। इसीको **मिथ्यात्मा** कहते हैं। क्योंकि इस स्थूल शरीर से और साक्षीरूप आत्मासे बहुत भेद है, पर यह भेद प्रतीत नहीं होता। जैसे चोर और स्थाणुमें भेद है पर सो भेद रात्रिसमयमें प्रतित नहीं होता इसी प्रकार अज्ञानताकी रात्रिके कारण **मिथ्यात्मा** और **साक्षीरूप** आत्मामें भेद प्रतीत नहीं होता।

३. **मुख्यात्मा**— "न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः सर्वान्तरत्वात्तस्यैव मुख्यात्मत्वमिष्यते" (पं० अ० १२ श्लो० ४२)

अर्थ— जो सच पूछाजावे तो साक्षीका आत्मासे भेद प्रतीत नहीं होता और न यथार्थमें भेद है। क्योंकि साक्षी जो मुख्यात्मा है, किसीका भी प्रतियोगी (विरोध करनेवाला) नहीं होता, वह तो केवल साक्षी मात्र है। दो पुरुषोंके दंगे तकरारमें मारखानेवाले और मारनेवाले दोनों को देखता रहता है, पर वह स्वयं किसीसे विरोध नहीं करता, न्यायके समय न्यायाधीशके सम्मुख सच्ची बात कहदेता है। इसी प्रकार यह "**सर्वान्तरत्वात्**" सबके अन्तर होनेसे साक्षीमात्र है। उसी मुख्या-

+ पंचकोशोंका वर्णन अ० ३ श्लो० २७ मेंदेखो।

त्माको समय-समयपर मुमुक्षुओंको समझानेके लिये वेदान्त शास्त्रने आत्माके तीन भेद दिखलादिये हैं ।

अब वेदान्तका यह सिद्धान्त है— " सत्येवं व्यवहारेषु येषु यस्यात्मतोचिता । तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्यान्यस्य शेषता ॥

(पं० अ० १२ श्लो० ४३)

अर्थ— इन तीनों प्रकारके आत्माओंके रहते भी व्यवहारोंमें जहां जिस प्रकारके आत्माकी आत्मता बनती है, तिन व्यवहारोंमें तिसी आत्माकी प्रधानता है । जैसे कोई प्राणी मृत्युको प्राप्त होरहा है, उस समय उसके घरमें वस्तु-तस्तुकी रक्षानिमित्त उसके पुत्रकी प्रधानता है । इसलिये यहां गौणात्मा की ही प्रधानता हुई । सो यहां जो भगवान्‌ने आत्मासे आत्माका उद्धार तथा अवसादन दिखातेहुए आत्मामें विकार दिखाया, सो इस पंचकोशात्मक देह सम्बन्धी जीवात्मताके विषय अर्थात् मिथ्यात्माके विषय दिखलाया, मुख्यात्माके विषय नहीं ! मुख्यात्मा तो सदा साक्षीमात्र और निर्विकार है । यहां शंका मत करो !

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि पञ्चकोशके सम्बन्धसे नीचे गिरते—गिरते जो यह मिथ्यात्मा जीवात्मा कहलारहा है । सो मिथ्या त्माकी आत्मता है । इसलिये यहां इस श्लोकमें इसीकी प्रधानता है, यद्यपि साक्षी जो मुख्यात्मा सदा इसके साथ है पर अज्ञानताके कारण प्रतीत नहीं होता ।

भगवान् कहते हैं, कि अपने आत्मासे अर्थात् मिथ्यात्मासे उन्नति करते—करते ऊपरको चढो ! अर्थात् मुख्यातमा बनजाओ ! मुख्यात्मा

तो तुम हो ही, पर भ्रमात्मक ज्ञानसे स्थाणुको चोर समझ रहेहो, सो मत समझो ! ज्योंका त्यों नित्य शुद्ध बुद्ध समझो। इसीको समझनेकेलिये अर्थात् अपने यथार्थस्वरूपको पहचाननेकेलिये भगवानने "उद्धरेत्" ऐसा पद कहा। और पञ्चकोशोंमें जो प्रीति है वही इस आत्माका नीचे गिरना है सोभगवान् कहते हैं, कि इन पञ्चकोशोंकी प्रीतिको छोडो। अर्थात् अन्नमयकोषकी प्रीति छोड प्राणमयकोषको देखो, फिर प्राणमयकोषकी प्रीति छोड मनोमयकोषको देखो फिर मनोमयकोषकी प्रीति छोड विज्ञानमयपर चढो, विज्ञानमयकोषकी प्रीति छोड आनन्दमयपर चढो ! और आनन्दमयसे परमधामपर चढकर भगवद्-ध्यानमें अर्थात् ध्यानयोगमें मग्न होजाओ।

भगवानने यह जो कहा, कि अपना ही आत्मा अपना शत्रु और मित्र है; सोविकारात्मकबोधके कारण केवल इसी मिथ्यात्माके विषय कहा क्योंकि यहां इस श्लोकमें मिथ्यात्माका ही व्यवहार वर्णन कियागया है, इसलिये मिथ्यात्मा जो जीवात्मा उसीकी यहां प्रधानता है ।

दूसरी बात यह है, कि आत्मा शब्दका अर्थ मन और बुद्धि भी है, सो मन बुद्धि अन्तःकरणका स्वरूप है । इसलिये भगवान् कहते हैं, कि अपने ही अन्तःकरणसे अपनी उन्नति करो, अर्थात् मिथ्यात्मत्वके व्यवहारको छोडो ! क्योंकि अन्तःकरणका शुद्ध होना "ऊपर चढना" है और मलीन होना "नीचेगिरना" है। अन्तःकरणमें राग उत्पन्न होनेसे मित्रता और द्वेष उत्पन्न होनेसे शत्रुताकी प्राप्ति होती है सो इन राग और द्वेष दोनोंको परित्याग करो !

तीसरी बात यह है, कि पहले जो आत्माके अनेक अर्थ कह आये हैं तिनमें यत्न, धृति, स्वभाव और देह भी बतायेगये हैं इसलिये आत्मा

कहनेसे भगवान्‌का यह भी तात्पर्य्य है, कि मनुष्य अपने यत्नसे, धृतिसे, स्वभावसे और देहसे भी अपनी उन्नतिका यत्न करे ॥ ५ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! किस अवस्थामें अपना आत्मा शत्रु है ? और किस अवस्थामें मित्र है ? अर्थात अपने आत्माके शत्रु मित्र होजानेका लक्षण क्या है ? कैसे पहचान सकते हैं, कि अब मेरा आत्मा शत्रु है वा मित्र है ?

इतना सुन भगवान बोले—

मू०— बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

पदच्छेदः— येन (नियन्त्रा) आत्मना (विवेकयुक्तेन मनसा) एव (निश्चयेन) आत्मा (कार्यकारणसंघातः) जितः वशीकृतः) तस्य (आत्मजितस्य योगारूढस्य) आत्मा (अन्तःकरणम्) आत्मनः (जीवस्य) बन्धुः (सहायकः । उच्छृङ्खलत्वप्रवृत्त्यभावेन स्वहितकारकः) [किन्तु] अनात्मनः (अजितात्मनः । अजितचेतसः) तु, आत्मा, एव (निश्चयेन) शत्रुत्वे (अपकारेकारित्वे) शत्रुवत् (रिपुवत । शत्रुभावे । वाह्यशत्रुरिवोच्छृङ्खले प्रवृत्त्याऽनिष्टकारित्वे) वर्त्तेत (वर्त्तमानो भवति) ॥ ६ ॥

पदार्थः— (येन) जिस चतुर यत्न करनेवाले पुरुषसे (आत्मना) अपने विवेकयुक्त मन द्वारा (आत्मा) अपना शरीर

इन्द्रियोंके सहित (जितः) वशीभूत करलिया गया है (तस्य) उसीका (आत्मा) अन्तःकरण (आत्मनः) उसका अपना (बन्धुः) सहायक है और इसीके प्रतिकूल (अनात्मनः) जिसने अपनेको नहीं जीता (तु) तो तिसका (आत्मा) अपना ही आत्मा (एव) निश्चय करके (शत्रुत्वे) उसके अपकार करनेमें (शत्रुवत्) शत्रु के समान (वर्त्तेत) वर्तमान होता है अर्थात् जिसने अपनी आत्मासे अपनेको जीता है इसलिये जितेन्द्रिय होगया है उसकी आत्मा तो उसका हित है और जिसने आपसे अपनेको नहीं जीता उसका आत्मा उसका शत्रु है ॥ ६ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो यह पूछा है, कि यह आत्मा किस अवस्थामें अपना वन्धु है? और किस अवस्थामें अपना शत्रु होता है? फिर किन लक्षणोंसे यह पहचाना जाता है? कि अब मेरा आत्मा मेरा मित्र है, अब शत्रु है। इसका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [**बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः**] जिसने अपने आत्मासे अपने आत्माको जीतलिया है उसीका आत्मा उसका बन्धु है। अर्थात् सर्व प्रकारके विषयानन्दको मृगतृष्णाके समान जान जिसने दूरहीसे तिरस्कार करदिया है, सर्व प्रकारके प्रलोभनोंसे चित्तको हटा यतचित्तात्मा होचुका है और किसी विषयके संग्रहकेलिये संकल्प मात्र भी नहीं करता है। जैसे कोई बीर अपने शत्रुकी सर्व-प्रकारकी धोखा देनेवाली कलाओंको जान, अपने बचनेका पूर्ण यत्न कर, अपने गढमें सुख-पूर्वक निर्भय बैठजाता है, इसी प्रकार जो " नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् " (अ० ५ श्लो० १३)

इस मेरी आज्ञानुसार नवद्वारकी देहमें न कुछ करता, न कराताहुआ सुखपूर्वक शान्तचित्त हो बैठजाता है, उसी पुरुषका आत्मा उसका अपना बन्धु होता है। उसी पुरुषका आत्मा उसको संसार-क्लेशसे पार करदेता है। अथवा यों अर्थ करलो, कि उसका मुख्यात्मा जो ईश्वर सो उसके मिथ्यात्मा जीवका परम बन्धु है। जैसा भगवान् पहले कहआये हैं, कि "सुहृदः सर्वभूतानाम्" मैं सम्पूर्ण विश्वमात्रके जीवोंका सुहृद् अर्थात् बन्धु हूं। तहां भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जो विषयोंकी प्रीति छोड मुझमें प्रीति करता है, उसका मैं बन्धु होकर नाश नहीं होनेदेता। सर्व प्रकारके क्लेशोंसे बचाता हूं। श्रुतिः "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमान-मिति वीतशोकः (श्वेताश्व० अ० ४ श्रुति ७)

अर्थ— परमात्मा और जीवात्मा जो दो पक्षी इस शरीर रूप वृक्ष पर बैठे हैं इनमें एक जो भोक्ता (जीव) सो कर्मोंके फल तथा राग-द्वेषादिके भारसे दुखित हो अर्थात् दबकर ऐसा शोचता है, कि मैं दुखी हूं, बिना किसी रक्षकके अकेला पडा हूं, कौन मेरी सुधि लेवेगा? एवम् प्रकार अत्यन्त दीन, रक्षकहीन होकर शोचमें जलता है तथा मोहाक्रान्त होकर अनेक प्रकारके दुखोंसे दुःखी रहता है। पर जब किसी पूर्व-जन्मके शुभ-कर्मोंके उदय होनेसे अपने संगी ईश्वरकी ओर देखता है, उसकी विभूति और महिमाको पहचानता है तब वह प्राणी वीतशोक होजाता है अर्थात् शोकसागरसे छूटकर कृत-कृत्य होजाता है, आप्तकाम हो जाता है। फिर उसे किसी पदार्थकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं रहती।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि इस शरीररूप वृक्षपर जो दो पक्षी क्षिध्यात्मा (जीव) और मुख्यात्मा (ईश्वर) बैठे हैं ये दोनों जब तक पीठसे पीठ जोडे बैठे हैं अर्थात जब तक यह जीव ईश्वरसे विमुख है, तब ही तक दुखी हो, नाना प्रकारके कर्मोंके फलोंको भोगता रहता है । तबही तक उसका दूसरा आत्मा इसका शत्रु है । पर जब दोनोंके मुख एक दूसरेसे मिलजाते हैं अर्थात जीयात्मा ईश्वरके सम्मुख होजाता है तब परमानन्दको प्राप्त होजाता है । तब ही इसका आत्मा इसका बन्धु कहाजाता है

भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि इसी प्रकार अपना आत्मा अपना बन्धु है । अब भगवान कहते हैं, कि इसीके प्रतिकूल [**अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत**] जो अजितात्मा है जिसने अपने अन्तःकरणको गुरुके उपदेश द्वारा निष्कामकर्मोंसे शुद्ध नहीं किया, राग, द्वेष, काम और क्रोधकी ओर लगादिया, एकवारगी अचेत होकर कभी किसी प्रकारके धर्म्मकी ओर नहीं देखा, सन्ध्या, हवन तर्पणादिसे विमुख रहा, इष्टपूर्त्त इत्यादिका सम्पादन नहीं किया । वरु इसके प्रतिकूल चोरी, जारी, मिथ्या, छल कपट, प्रपंच, द्वेष, पाखण्ड, लोलुपता, धूर्त्तता, असूया इत्यादि दुष्टकर्मोंमें अपनी आयु बितादी, उसीका आत्मा उसका शत्रु है। क्योंकि ऐसे प्राणीके सिरपर जब काल चढ आता है तब यमदूत मुद्गरोंसे मारमारकर वैतरणीमें डूबाते हैं और कहते हैं, कि "कृतं स्मर कृतं स्मर" अर्थात जो दुष्टकर्म तूने किया है उसको स्मरणकर ! उसको स्मरणकर! एवम् प्रकार नरकके दुःखोंको भोगकर फिर इस मृत्युलोकमें आ शूकर,

कूकर इत्यादि नीच योनियोंमें उत्पन्न होता है, ऐसे ही प्राणीका आत्मा उसका शत्रु है।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि ऐसे प्राणीने अपने ही आत्मासे अपने आत्माका घात किया, इसी कारण ऐसे पुरुषका अपना ही आत्मा अपने शत्रुत्वमें अर्थात् अपकार करनेमें लगारहता है, शत्रुके समान बर्त्ताव करता है अर्थात् पूर्ण शत्रु ही है।

क्योंकि जब यह जीव यमदण्डसे पीडित होता है तब पछताता है और बोलता है, कि " यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्। एकाकी तेन दह्यामि गतास्ते फलभागिनः।

अर्थ— अपने पुत्र, कलत्र इत्यादिके पालन पोषणकेलिये जो मैंने शुभाशुभकर्म किये थे, उनके फल आज मैं अकेला भोगरहा हूं न जाने वे लोग कहां गये जो मेरे उपार्जन कियेहुए द्रव्यसे मुझे अपना–अपना कहकर अपना स्वार्थ सिद्ध करलेते थे। अब इस समय तो मैं अकेला नरकमें जलरहा हूं उनमेंसे किसीको सामने नहीं देखता। यही दुःखभोगना अपने आपकी शत्रुता है। क्योंकि प्राणीके आत्माहीने शत्रु होकर उसे ऐसे दुःखमें डुबादिया।

श्यामसुन्दरके कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जिसको जितात्मा देखो उसे जानो, कि इसका आत्मा इसका बन्धु है और जिसे अजितात्मा देखो! पहचानलो, कि इसका अपना ही आत्मा अपना शत्रु है ॥ ६ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! एवम् प्रकार जो जितात्मा है, जिसका आत्मा उसका वन्धु है वह किस फलको प्राप्त होता है? सो कृपाकर कहो!

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन! सुन—

मू०— जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥
॥ ७ ॥

पदच्छेदः— शीतोष्णसुख दुःखेषु (शीतोष्णादिषु प्राप्तेषु) तथा, मानापमानयोः (पूजापरिभवयोः) जितात्मनः (जितः अन्तःकरणं येन तस्य। निर्विकारचित्तस्य) प्रशान्तस्य (सर्वत्र समबुद्ध्या रागद्वेषे शून्यस्य) परमात्मा (महेश्वरः। वासुदेवः) समाहितः (हृदि स्थितः। हृदि आविर्भूतः)॥ ७ ॥

पदार्थः— (शीतोष्णसुखदुःखेषु) ठंढक और गरमीमें सुख और दुःखमें (तथा मानापमानयोः) मान और अपमानमें (जितात्मनः) जितेन्द्रिय तथा यतचित्तात्माका और (प्रशान्तस्य) सदा शान्त रहनेवालेका (परमात्मा समाहितः) परमात्मा समाहित होता है अर्थात् उसकी समाधिका विषय होता है। तात्पर्य्य यह है, कि उसीके हृदयमें परमात्मा स्थित होजाता है ॥ ७ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से पूछा है, कि जितात्मा प्राणीको कौनसा उत्तम फल लाभ होता है? उसके उत्तरमें भगवान्

कहते हैं, कि [जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समा-हितः] जो प्राणी जितात्मा (इन्द्रियजित) तथा प्रशान्त है उसी केलिये परमात्मा समाहित है । अर्थात् उसीके ध्यानमें परमात्मा स्थिर रहता है । जिसने अपनी बुद्धि भगवत्में स्थिर रक्खी है, जो किसी प्रकारके विकारको प्राप्त नहीं होता, षोडसी, मन हरनेवाली युवतियों के सम्मुख जो तनकभी चलायमान नहीं होता, शुकदेवके समान स्वर्गकी रम्भाका भी तिरस्कार करडालता है तथा जिसके हृदयमें यहां तक सज्जनता उमडी हुई है, कि अपनी भलाई करनेवालेके साथ तो क्या ? वरु अपने बुरा करनेवालेके साथ भी भलाई ही करनेमें तत्पर रहता है अर्थात् जो सदा क्षमाका समुद्र ही बनाहुआ है । इसी कारण जो जितात्मा और प्रशान्तात्मा की पदवीसे सुशोभित है ऐसोंहीके लिये परमात्मा समाहित है । अर्थात् वह महाप्रभु सदा उनके चित्तमें स्थिर है। अथवा यों कहलो, कि ऐसे ही पुरुषकेलिये परमात्मा जो स्वयं प्रकाशस्वरूप है, समाधिका विषय होजाता है। तात्पर्य्य यह है, कि पर-मात्मामें उसीकी समाधि लगजाती है । ऐसा प्राणी अन्य किन-किन विशेष गुणोंसे सम्पन्न रहता है ? सो भगवान् कहते हैं, कि [शीतो-ष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः] शीत और उष्णमें, सुख और दुःखमें क्लेशोंको शान्तिपूर्वक सहन करलेता है ऐसा प्राणी शान्तरूपसे विहार करता है । शीत और उष्ण कहनेसे साधारण दृष्टि से तो ठंडक और गरमीसे ही तात्पर्य्य है पर यथार्थमें इन दोनों शब्दोंसे स्वरूपतः केवल सरदी गरमीको नहीं समझनी चाहिये। क्योंकि प्रायः ऐसा देखाजाता है, कि दस पांच मनुष्य परस्परे भाषण करतेहुए ऐसा बोला

करते हैं, कि भाई ! संसारकी सरदी, गरमी सबको समय-समयपर सहन करनी चाहिये ! कहावत है, कि " जब जस बहै बयार पीठ तब तैसी दीजे " अर्थात् संसारी दुःख सुख सरपर आपडें तो अवश्य सहना चाहिये। इसलिये सरदी गरमी कहनेसे स्वरूपतः ग्रीष्मऋतुकी गरमी और शीतकालकी सरदीसे तात्पर्य नहीं है वरु सुख दुःख से तात्पर्य है।

इसी सामान्य सरदी गरमीके सहनेवालोंको महात्मा वा जितात्मा तथा प्रशान्तचित्त कहाजावे तो साधारण पशु-पत्ती तथा हलजोतनेवाले कुलियोंको जो ग्रीष्मऋतुके प्रचण्ड तापमें दिनभर हलजोताकरते हैं, महात्मा कहना चाहिये। इसलिये यहां शीतोष्ण कहनेसे स्वरूपतः केवल साधारण सरदी गरमी मात्रसे प्रयोजन नहीं है, वरु संसारके अन्य प्रकारकेदुःख-सुखोंसे भी प्रयोजन है। इसलिये भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो संसारकी सरदी गरमी अर्थात् भली बुरी दशामें व्याकुल नहीं होता तथा सुख दुःखमें जो सदा प्रसन्न चित्त रहता है वही यथार्थ जितात्मा है, क्योंकि अपने स्थानसे वह हिलता नहीं।

शंका— यदि शीतोष्ण कहनेसे भगवानका तात्पर्य्य सांसारिक दुखोंसे ही है, तो शीतोष्णके साथ फिर सुखदुःखेषु क्यों कहा ?

समाधान— शीतोष्ण कहनेसे उन दुःखोंका प्रयोजन है जो किसी दैवी-उत्पातसे उत्पन्न होते हैं। जैसे अनावृष्टिके कारण दुष्काल पडजाना, विशूचिका इत्यादि रोगोंका फैलजाना, जल और अग्निका अधिक उत्पात होना, जिसे एक ही बार बहुतेरे प्राणियोंको सहन करना पडता है और दुःख-सुख कहनेसे विशेषकर एक ही प्राणीके दुःखसुख से प्रयोजन है, जो उसे अपने शुभाशुभकर्मोंद्वारा अकेले ही भोगना

पडता है। एक ही घरमें एक ही समय एक दुखी रहता है और दूसरा सुखी रहता है, सो व्यक्तिके विशेष कर्मोंका फल है, यहां शंका मत करो!

भगवान् कहते हैं, कि दुःख सुखमें जो व्याकुल नहीं होता उसीके लिये परमात्मा समाहित है।

अब कहते हैं, कि (मानापमानयोः) मान और अपमानमें जिसके चित्तको विकार नहीं उत्पन्न होता वही परमात्मस्वरूपमें समाधिस्थ रहता है।

शंका—जिस अपमानको *अम्बरीष राजाके द्वारपर दुर्वासा नहीं सह सके तो साधारण प्राणी कैसे सहसकता है?

समाधान— साधारण प्राणीकेलिये यह उपदेश है भी नहीं। यह तो उसीकेलिये है जिसने अनेक काल अभ्यास करके अपने अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करली है और योगारूढ होगया है। क्योंकि जब वह एवम् प्रकार योगारूढ होकरे समदर्शी होजाता है तब मान और

---

* निरपराध अम्बरीष राजाने जब दुर्वासाको अतिथि बनाकर द्वादशी बीतजानेके भयसे केवल जलपानमात्र करलिया था इसे दुर्वासाने अपमान समझा और राजाके समीप आकर बोले, कि अहो! "अस्य निरांसस्य श्रियोन्मत्तस्य पश्यतः। धर्मव्यतिक्रमं विष्णोरभक्तस्येशमानिनः॥ योमामतिथिमायातमातिथ्येन निमन्त्र्य च। अदत्त्वा भुक्तवांस्तस्य सद्यस्ते दर्शये फलम्॥ एवम्ब्रुवाण उत्कृत्य जटां रोषविदीपितः। तया स निर्ममे तस्मै कृत्यां कालानलोपमाम्॥ (श्रीमद्भागवत स्कं० ९ अध्या० ४ श्लो० ४४, ४५, ४६)

अपमानको सहन करनेमें समर्थ होजाता है। हां! इतना तो अवश्य है, कि माहेश्वरी माया अत्यन्त प्रबला है जो ब्रह्मादिको भी मोहित करलेती है। इसलिये इस अपमानकी चपेटमें दुर्वासा आगये तो यह घटना क्षणमात्रकेलिये थी। वरु प्राय: ऐसा देखाजाता है, कि जब-जब कोई महात्मा मायावश काम क्रोधादिकी चपेटमें आजाता है तो भगवान् स्वयम् उसे चेताकर शुद्ध और निर्म्मल करदेते हैं। जैसे दुर्वासाको चेतादेनेकेलिये चक्रकी प्रेरणाकी। जिसके भयसे दुर्वासा सुमेरुकी कन्दरामें जा घुसे, लोकलोकान्तरोंमें भागतेरहे, ब्रह्मादिकी शरणगये, पर कोई उनकी रक्षा करनेमें समर्थ न हुआ। जब भगवान्की शरण जागिरे तब उन्होंने उपदेश किया, कि " जा! मेरे भक्त अम्बरीषके पास जा! जब तेरी जान बचेगी " फिर ऐसा ही हुआ उधर अम्बरीषको दुर्वासाके इतना क्रोध करनेपर भी तनक क्षोभ न हुआ।।

अथ— अहो! देखोतो सही— निर्लज्जको देखोतो! जो द्रव्यसे उन्मत्त, विष्णुकी भक्तिसे रहित, अपनेको सबका शीरोमणि माननेवाले अम्बरीष राजाके अन्यायकी ओर तो देखो! जिसने मुझको बडे आदरसन्मानसे अपना अतिथि बनाकर भी मेरी कुछभी परवा न करके मुझको बिना भोजन कराये आप भोजन करलिया है। अच्छा! मैं अपने इस अपमानका फल बहुत ही शीघ्र दिखलाता हूं। इतना कहकर अपनी एक जटा उखाड पृथ्वी पर पटकदी। जिससे प्रलयकालकी अग्निके समान लहरातीहुई कृत्या नामकी देवी राजाको भस्म करनेकेलिये दौडी।

इस इतिहाससे प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि दुर्वासा ऐसे महापुरुषसे जब अपमान नहीं सहागया तो साधारण प्राणी कैसे सहसकता है?

अब दोनों दृष्टान्त यहां आपके सामने एक ही ठौर रखेहुए हैं। बुद्धिमान् विचार करसकते हैं, दुर्वासाका क्रोधमें आकर अपमान न सहना, तिसका दण्ड दुर्वासाको और सहनशील होनेका फल अम्बरीषको मिला। अर्थात् जिसकी रक्षा भगवानके चक्रसे होगयी। इसी प्रकार अम्ब-रीष राजाके समान जो प्राणी सब दशाओंमें शान्तचित्त है वही जितात्मा है। यहां शंका मत करो! देखो! भगवानने स्वयं अपने मुखार-विन्दसे अम्बरीषके सम्मुख दुर्वासाको कहा है, कि "ये दारागार पुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥ मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः वशे कुर्वन्ति मां भक्ताः सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥ (श्री मद्भागवत स्कं० ६ अ० ४ श्लो० ६५, ६६)

अर्थ— जो अपनी स्त्री, घर, पुत्र, पौत्र, प्राण, धन तथा इस लोक और परलोकको परित्यागकर मेरी शरण प्राप्त होते हैं, उनको मैं कैसे त्याग करनेको समर्थ होसकता हूं? क्योंकि जिसने मुझमें अपने हृदयको निरन्तर लगारखा है ऐसे समदर्शी साधु मुझको इस प्रकार वश करलेते हैं जैसे पतिब्रता स्त्री अपने सच्चे पतिको वशीभूत करलेती है ॥

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि उक्त गुणोंसे जो प्राणी सम्पन्न है मैं सदा उसके आगे-पीछे, दायें-बायें डोलता रहता हूं ॥ ७ ॥

अब भगवान् ऐसे जितात्माकी प्रशंसा नाना प्रकारसे करतेहुए अर्जुनके प्रति कहते हैं—

मू०— ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥

पदच्छेदः— ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा (शास्त्रोपदेशजा बुद्धिः तथा शास्त्रार्थध्यानतः प्रसारूपोऽनुभवस्ताभ्यां तृप्तः आत्मा यस्य सः) कूटस्थः (संसारतापादप्रकम्प्यः । विषयसन्निधावपि विकारशून्यः) विजितेन्द्रियः (विषयग्रहणात् व्यावर्त्तितानीन्द्रियाणि येन सः) समलोष्टाश्मकांचनः (समानि मृत्पिण्डपाषाणकांचनानि यस्य सः) योगी (योगारूढपुरुषः) युक्तः (समाहितः । योगारूढो वा) इति उच्यते ॥ ८ ॥

पदार्थः— (ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा) ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त है आत्मा जिसकी तथा (कूटस्थः) किसी प्रकारके तापसे नहीं कम्पायमान होता हृदय जिसका फिर (विजितेन्द्रियः) जो प्राणी जितेद्रिय है और (समलोष्टाश्मकांचनः) समान हैं मिट्टीके पिण्ड पत्थर और काञ्चन जिसकी दृष्टिमें सो ही (योगी) योगारूढ पुरुष (युक्तः) समाहितचित्तवाला है (इति) ऐसा (उच्यते) कहाजाता है ॥ ८ ॥

भावार्थः— अब आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र कई श्लोकोंमें ध्यान-योगकी शिक्षा देते हुए परमात्मसमाहित पुरुषकी प्रशंसा करते

हुए कहते हैं, कि [**ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजिते-न्द्रियः**] ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त है आत्मा जिसका अर्थात् गुरुके उपदेश द्वारा शास्त्रके विषयोंको पूर्णप्रकार ग्रहणकर तदनुसार विचार तथा अभ्यासपूर्वक ज्ञानकी * **सातों भूमिकाओंको** प्राप्तकर शुद्ध करली है बुद्धि जिसने तथा तिस ज्ञानके परिपक्व होनेसे आत्मा अनात्माके भेदका पूर्णप्रकार प्रत्यक्ष करलिया है जिसने और जो कुछ जाननेको था जानलिया है जिसने वही " **ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा** " कहलाता है ।

प्रमाण— **परोक्षापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा । तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोयं समाप्यते ॥** अर्थात् विचारसे जो ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है वह दो प्रकारका है **परोक्ष** और अपरोक्ष। तहां परोक्ष-ज्ञानका विचार करते-करते जब अपरोक्ष-ज्ञानकी प्राप्ति होती है तब विचारकी समाप्ति होजाती है । क्योंकि जिसको जानना था सो प्रत्यक्ष करके जानलिया । जैसे भोजनकी आवश्यकता तब-हीतक है जबतक क्षुधाकी शान्ति नहीं हुई है । क्षुधाकी शान्ति होनेपर अत्यन्त रुचिकारक पदार्थ भी फीके होजाते हैं । इसी प्रकार शास्त्रोंका विचार तबही तक है जबतक **अपरोक्षज्ञान** अर्थात् प्रत्यक्ष विज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई है । पर जब इसकी प्राप्ति होगयी और " **अहं ब्रह्मास्मि** " की अखण्ड वृत्ति चलपडी तब विचारकी समाप्ति होजाती है क्योंकि यहां तृप्ति होगई । ऐसा प्राणी सर्व प्रकार तृप्त होकर

* सप्तभूमिका देखो अ० ३ श्लो० १८

फिर किस दशाको पहुंचता है? सो भगवान् कहते हैं "— **कूटस्थो विजितेन्द्रियः**" कूटस्थ और विजितेन्द्रिय होजाता है। जैसे कूटस्थ-ब्रह्म स्वयं निर्विकार है, स्थूल-सूक्ष्म-शरीरकी उपाधियोंसेतनक भी कम्पायमान नहीं होता। इसी प्रकार सो पुरुष भी कूटस्थ होजाता है। पहले जो कूटस्थ कहआये हैं उसमें और इसमें कुछ भेद नहीं।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जो प्राणी स्थूल शरीरके विकारोंको त्यागकर सूक्ष्म-शरीर हो फिर तिस सूक्ष्मको कूटस्थमें लय करदेता है वही यथार्थ कूटस्थ है। और जब वह कूटस्थ हुआ तो विजितेन्द्रिय अवश्य होगा। क्योंकि जैसे जलके स्थिरहुए जलाकाशमें भासनेवाले चन्द्र सूर्य्य सब स्थिर देखेजाते हैं और जलके डोलनेसे सब डोलते देखपडते हैं। इसी प्रकार प्राणी जब कूटस्थ दशाको प्राप्त होता है तो स्थूल सूक्ष्म शरीरोंके साथ जितनी इन्द्रियां हैं तथा मन, चित्त, बुद्धि अहंकारादि जो अन्तःकरण हैं सब एकवारगी स्थिर होजाते हैं। इसी कारण सो प्राणी अपनी इन्द्रियोंको वशीभूत करलेता है। अब भगवान् कहते हैं, कि एवम् प्रकार स्थिरचित्त होजानेसे [**युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः**] वही योगी योगमें युक्त अर्थात् आरूढ कहलाता है और परमात्मामें समाहितचित्त कहाजाता है।

यहां युक्त कहनेसे भगवान्का तात्पर्य्य यह है, कि जैसे बाजीगर मस्तकपर घट लियेहुए एक पतली डोरीपर गानकरता, बोलता, हंसता और पैरोंको आगे बढाता चलाजाता है, पर उसका चित्त उसी स्थानपर स्थिर रहता है जहां उसके पैरोंके तलवे और डोरीका मेल है। यदि उस डोरीमें उसका चित्त युक्त न हो तो आप भी नीचे गिरपडे और

मरतकका घट भी गिरकर चूर-चूर होजावे। इसी प्रकार जो प्राणी मिट्टीका लोंदा, पत्थर और सोना सबको एक समान देखता है, जिसने सब व्यवहारोंको त्याग करदिया है उसे न तो स्वर्णसे, न किसी और प्रकारके द्रव्य इत्यादिसे कुछ प्रयोजन रहता है। इसलिये उसकेलिये मृत्पिण्ड, ईंट, पत्थर और काञ्चन सब एक समान हैं। अश्मके अर्थ हीरा, लाल, पिरोजा, पुखराज, नीलम आदि भी होसकते हैं। इसलिये भगवानके कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि उसकी दृष्टिमें सर्व-प्रकारके रत्न तथा स्वर्ण इत्यादि, ईंट और पत्थरके समान हैं। इसी विषयको भगवान् पहलेभी कह आये हैं, कि " विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे...." (देखो अ० ५ श्लो० १८) बुद्धिमानोंको स्मरण रखनाचाहिये, कि संसृतव्यवहारदृष्टिसे इन ईंट और रत्नोंमें अन्तर है किन्तु परमार्थदृष्टिसे ये सब समान हैं।

टिप्पणी— ऐसा मत करो, कि सिल और लोढ़ा लेकर किसी जौहरीकी दुकान पर जा उससे यों कहो, कि भाई! यह सिल लोढ़ा लो और इसके बराबर स्वर्ण देदो। क्योंकि भगवान्ने गीतामें पत्थर और स्वर्णको एक समान देखनेको कहा है।

फिर ऐसा भी मत करो, कि अपने पुत्रके यज्ञोपवीत संस्कारके समय ब्राह्मणके स्थानपर चांडालको बुलायाकरो और यह कहो, कि भगवान्ने ब्राह्मण और चांडालको समान कहा है ऐसा करनेसे धूर्त वा पागल समझे जाओगे। इसका पूर्ण ध्यान रखो, कि परमार्थकी बातोंको संसृत-व्यवहार वा स्वार्थमें योजना मत करो। ऐसा करना ज्ञानी होना नहीं है पागल होना है। इसलिये व्यवहार-दृष्टिसे इनका सम नहीं देखना है परमार्थ दृष्टिसे देखना है।

भगवानका यह तात्पर्य नहीं है, कि गीता पढकर सब छोटे बडे पागल होजावें। जैसे आज कलके नवीन प्रकाश वाले शास्त्रके वचनोंको पढकर पागल होजाते हैं। मुख्य तात्पर्यको न समझकर व्यवहारमें भी परमार्थ दृष्टिको घुसेड दिया करते हैं। ऐसा करना तो यथार्थमें पागल ही होना है ज्ञानी होना नहीं है। अस्तु—

भगवानके कहनेका अभिप्राय यह है, कि जो प्राणी उक्त गुणोंसे सम्पन्न है वही जितात्मा और समाहितचित्त है ॥ ८ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि ऐसे समबुद्धिवालोंमें भी उत्तम कौन है ?

मू०— सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ६ ॥

पदच्छेदः— सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु (अनपेक्षोपकारकर्त्ता, स्नेहवान, शत्रुः, विवदमानयोरुभयोरप्युपेक्षकः कृतापकारमपेक्ष्यापकर्त्ता तथा सम्बन्धेनोपकर्त्ता एतेषु) साधुषु (सदाचारिषु) पापेषु (दुराचारिषु) अपि, च समबुद्धिः (ब्रह्मदर्शनेन एकरूपा बुद्धिर्यस्य सः) विशिष्यते (सर्वत उत्कृष्टो भवति विशिष्टो भवति) ॥ ६ ॥

पदार्थः— (सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु) सुहृत्, मित्र और उदासीन " किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखनेवाला " मध्यस्थ " विवादियोंका न्यायपूर्वक हित चाहनेवाला " द्वेष्य

"अपने साथ विरोध करनेवाला" और बन्धु इन सबोंमें तथा (साधुषु) साधुओंमें और (पापेषु) पापियोंमें (अपि, च) भी जो (समबुद्धिः) समान बुद्धि रखनेवाला है वही (विशिष्यते) सर्व प्रकार के योगारूढ प्राणियोंमें विशेष अर्थात् उत्तम समझाजाता है ॥ ९ ॥

भावार्थः— इस अध्यायमें भगवान् योगारूढ प्राणियोंकी प्रशंसा करनेके पश्चात् उनको ध्यान-योगमें प्रवेश करनेकी शिक्षा दिया चाहते हैं। इसलिये उत्तम मध्यम अधिकारियोंका वर्णन करते हैं। ऐसा करनेसे अधिकारियोंकी श्रद्धा दुगुनी और चौगुनी बढ़ती है। जब कोई किसी प्राणीको युद्धादि विशेष कार्योंमें प्रवृत्त करना चाहता है तो पहले उसे श्रद्धा दिलानेकेलिये उसकी प्रशंसा और स्तुति करता है। जैसे नरेश-बृन्द अपने वीरोंकी स्तुति और प्रशंसा कर उनको बाणविद्यामें चतुर बना, शरीरमें कवच, वर्म, सन्नाह और शिरस्त्राण इत्यादि पहना, नाना प्रकारेकी शिक्षा दे युद्धमें नियुक्त करते हैं। इसी प्रकार त्रिभुवनपति श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्द अपने सेवकोंपर कृपादृष्टिकर उनको योगरूप युद्धमें नियुक्त करनेकेलिये उनकी प्रशंसाकर उनको भिन्न-भिन्न गुणोंसे सुशोभित करते हैं। अर्थात् ध्यान-योगमें प्रवृत्त होनेवालोंको पहले किन-किन गुणोंसे युक्त होना चाहिये? उन गुणोंका वर्णन कर मानो यह उपदेश करते हैं, कि हे अधिकारियो! तुमको चाहिये, कि इन विषयोंपर पूर्ण ध्यान रक्खो। क्योंकि जिस प्राणीमें ये गुण नहीं होंगे वह ध्यान-योगका अधिकारी नहीं होसकता। एवम् प्रकार पिछले श्लोकोंमें मध्यम अधिकारियोंका वर्णन कर अब इस श्लोकमें उत्तम अधिकारियोंका वर्णन

करतेहुए कहते हैं, कि [सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु] " सुहृद्, मित्र, अरि, उदासी, मध्यस्थ द्वेष्य और बन्धु इन सातों प्रकारके मनुष्योंमें तथा [साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते] " साधुषु " सदाचारियों और " पापेषु " पापाचारियोंमें जो एक समान बुद्धि रखता है वही योगारूढ, अन्य सब योगियोंमें तथा यतात्माओंमें श्रेष्ठ है। अर्थात् सर्व प्रकार सर्व ठौर उसीकी उत्तमताकी प्रशंसा कीजाती है।

यहां भगवान्ने नवों प्रकारके मनुष्यों की गणना की है जिनसे प्रत्येक प्राणियोंको समय-समयपर संग करनेकी आवश्यकता पडती है। अथवा यों कहलो, कि ये नवों प्रकारके मनुष्य प्रत्येक मनुष्यके सम्मुख संयोगवशात् समय-समयपर आ उपस्थित होते हैं। तहां यह स्वाभाविक है, कि इनमें किसीके मिलनेसे प्रसन्नता और किसीके मिलनेसे घृणा प्राप्त होती है। इसी कारण किसीसे राग और किसीसे द्वेष होजाता है पर जिसे इनसे राग द्वेष न हो जो सबको एक समान देखे उसीकी गणना श्रेष्ठ योगियोंमें है।

पाठकोंके कल्याण निमित्त इन नवों प्रकारके पुरुषोंके स्वरूपोंका वर्णन करदिया जाता है—

१. सुहृद:— जो बिना किसी अपने प्रयोजनके परायेका उपकार कियाकरे । अर्थात् परायेपर जब किसी प्रकारका क्लेश आपडे तब अपने शरीरसे, बलसे तथा धन सम्पत्तिसे जिस प्रकार संभव हो उपकार करदेवे पर उसका बदला कभी न चाहे । जैसे महाराज शिवि

ने अपने शरीरका मांस काट श्येन (बाज) को देकर कपोतकी जान बचाई । इस प्रकारके स्वभावतः उपकारी सुहृद् कहेजाते हैं ।

२. मित्र-- वह है जो अपने साथ सहज स्नेह रखे और अपना हितकारी हो। " माता मित्रं पिताचेति स्वभावात् त्रितयंहितम् " माता, मित्र और पिता ये तीनों स्वभावसे ही हित होते हैं पर इन तीनोंमें भी मित्रकी श्रेष्ठता कथन कीगई है— " न मातरि न दारेषु नात्मनि न च सोदरे । विश्वासः तादृश पुंसां यावन् मित्रे स्वभावजे" अर्थात् मनुष्योंके लिये जो विश्वास मित्रमें होता है वह न माता में न स्त्री में, न पुत्रमें, न सहोदर भाईमें किसीमें भी नहीं होता ।

तिस मित्रकी प्रशंसा यों कीगई है– सुनो ! " शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रंभभाजनम् । केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् । " अर्थात् शोकसे और शत्रुके भयसे बचानेवाला तथा प्रीति और विश्वास का पात्र जो दो अक्षरका मित्र-रूपी रत्न है उसे न जाने किसने रच-दिया है । तात्पर्य यह है, कि मित्र मनुष्योंके लिये रत्नरूप ही है वरु रत्नसे भी अधिक है । क्योंकि रत्न जड है और मित्र चेतन है, रत्न विपत्तिके समय समीपसे हटजाता है और मित्र सटजाता, है इसलिये रत्नसे मित्र अधिक है ।

३. अरिः– अर्थात् शत्रु जो मित्रके प्रतिकूल है उसे अरि कहते हैं । मित्र सदा हित चाहता है शत्रु सदा अहित चाहता है । इसी कारण नीति तो यह है, कि " शत्रुणा नहि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनापि संधिना । सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येनपावकम् "

अर्थ— शत्रु चाहे लाखों उपायोंसे अपने साथ मेल करने आवे तो भी उससे मेल नहीं करना चाहिये और न उसकी चिकनी चुपडी बातों पर विश्वास ही करना चाहिये । जैसे पानी जो अग्निका शत्रु है चाहे कितना भी गरम क्यों न हो तो भी आगको बुझा ही देता है।

४. **उदासीनः**— " विजिगीषोः शत्रुमित्रभूमितो व्यवहितः व्यवहितत्वादेव नोपकारी नाप्यपकारी केवलमूर्द्धमासीन इव । "

अर्थात् बादी और प्रतिबादी दोनोंकी शत्रुता वा मित्रतासे कोई प्रयोजन न रखकर उनसे आंख बचाकर न तो किसीका उपकार करे और न अपकार करे, केवल ऊंचे बैठकर देखाकरे अर्थात् दोनोंसे उदासीन रहे ।

५. **मध्यस्थः**— "वादिप्रतिवादिनोरन्तरे तिष्ठतीति मध्यस्थः" जो वादी और प्रतिवादिके मध्यमें दोनोंका हित करने वाला है तथा जो "**मध्यस्थाः परकीयकार्य्यकुशलाः स्वार्थाविरोधेन ये**" अपने स्वार्थकी इच्छा न करके परायेके कार्य्य करदेनेमें जो कुशल हों वे ही मध्यस्थ कहलाते हैं ।

टिप्पणी— " बरतवाजो हाय दुश्मन तकियाकरदन अब्लहीस्त
पाय बोसे सैल अज़ पा अफगनद दीवाररा " (शादी)

برتواضع ہاے دشمن تکیہ کردن ابلہی ہست † پابوس سیل از پا افکند دیوارا

अर्थ— शत्रुकी नम्रतापर भरोसा करना मूर्खता है क्योंकि पानी जब दीवारकी जडको चूमता है तो उसे जडसे गिरा ही देता है ।

६. द्वेष्यः— जिसने किसीसे किसी प्रकारका क्लेश पायाहो इस लिये उसका अपकार करनेमें तत्पर हो उसे द्वेष्य कहते हैं। बहुतेरोंकी राजनीति अनुसार यह सम्मति है, कि गुणयुक्त द्वेष्य समयानुसार ग्राह्य है और दोषयुक्त अपना स्नेही भी त्याज्य है। पर परमार्थदर्शियोंकी दृष्टि में तो दोनों एकही समान हैं। "द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टस्तस्यार्त्तस्य यथौषधम् । त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासी दंगुलीवोरगक्षता ।"

(रघु० सर्ग १ श्लो० २८)

अर्थ— जैसे महाराज दिलीपको कडवी औषधिके समान द्वेष्य भी ग्राह्य था और सांपसे डसीहुई अपनी अंगुलीके समान दोषयुक्त अपना स्नेही भी त्याज्य था।

७. बन्धुः— जिसके साथ किसी प्रकारका अपना सम्बन्ध हो इस कारण अपना उपकार कियाकरे उसे वन्धु कहते हैं—

"उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्र विप्लवे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स वान्धवः ॥

अर्थ— विवाहादि उत्सवोंमें, किसी आपत्तिमें, दुर्भिक्षमें, राज्यके पलटनेके समय जो साथ देवे तथा जब राजाके समीप किसी दोषमें पकडकर लायाजावे तो उस समय जो राजद्वारपरे आकर भलेबुरेका साथी हो तथा श्मशानमें अर्थात् अपना मृतक फूंकनेके समय जो साथरहे वही बन्धु कहाजाता है।

८ साधुः— "सायधति निष्पादयति धर्म्मादि कार्य्यमिति साधुः" जो धर्म्मादिक कार्य्योंका साधन और सम्पादन करे उसीको साधु कहते

हैं । " यथा लब्धोपि सन्तुष्टः समचित्तो जितेन्द्रियः। हरिपादाश्रयो लोके विप्रसाधुरनिन्दकः ॥ निर्वैरः सदयः शान्तो दम्भाहंकारवर्जितः । निरपेक्षो मुनिर्वीतरागः साधुरिहोच्यते ॥ लोभ मोहमदक्रोधकामादि रहितः सुखी । कृष्णांघ्रिशरणः साधुः सहिष्णुः समदर्शनः। कृष्णाश्रयः कृष्णकथानुरक्तः कृष्णेष्टमन्त्रस्मृतिपूजनीयः । कृष्णानिशंध्यानमनास्त्वनन्यो यो वै स साधु र्मुनि वर्य्य कार्ष्णयम् ॥ (पाद्मोत्तरखण्ड अ० ९९) इन श्लोकोंका अर्थ स्पष्ट है । अर्थात् जो सन्तोषी, समदर्शी इन्द्रियजित, हरिभक्त निन्दारहित, निर्वैर, दयावान, शान्त, दम्भ और अहंकारसे रहित, निरपेक्ष, रागद्वेष रहित, लोभ, मोह, मद, क्रोध, कामसे दूर, सदा अपने आत्मामें सुखी, कृष्णपदारविंदकी शरण, सहनशील कृष्णहीके आश्रय रहनेवाला + कृष्णचरणानुरागी, कृष्ण इष्ट मन्त्रकी स्मृति और पूजा करनेवाला और जो अन्य सब आश्रयोंको छोड अहर्निश कृष्णसे मन लगाने वाला है वही मुनियोंमें श्रेष्ठ साधु कहाजाता है । " न प्रहृष्यति सम्माने नावमानेन कुप्यति । न क्रुद्धः पुरुषं ब्रूयादेतत् साधोस्तु लक्षणम ॥ (गरुड० अ० ११३ श्लो० ४२) अर्थात् मान वा अपमानसे जो हर्षविषादको न प्राप्त हो तथा क्रोध करके कठोर वचन न बोले यही साधुका पूर्ण लक्षण है ।

अर्थात् अपने सुखकी इच्छा छोड जो परायेके सुखकी इच्छा करनेवाला है तथा परायेके दुःखसे दुखित होनेवाला है वही साधु है ।

+ कृष्णसे कृष्णके सब अंशकलाओंके अवतारादिको समझना चाहिये अर्थात् पूर्णब्रह्म परमेश्वर जगदीश्वरके जितने अवतारादि हैं किसीसे मन लगाने ।

गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं, कि—

" साधुचरित नवनीति समाना। कहा कविन पै कहै न जाना ॥
निज दुःख पाइ द्रवै नवनीता। परदुख दुखी सो सन्त पुनीता ॥ "

६. पापः— अब पापात्मा अर्थात् दुर्जनोंका वर्णन करते हैं इस पापात्मा दुर्जनकी उपमा कविने मच्छरसे दी है अथवा यों कहलीजिये, कि मच्छरकी उपमा दुर्जनसे दी है दोनोंका एक ही तात्पर्य है—

प्राक्पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम् । छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशंकः सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति (हि० मि० श्लो ०८१)

अर्थ— दुर्जन वा मशक (मच्छर) पहले तो पैरोंपर गिरता है फिर पीठके मांसको खाता है अर्थात् पीठ पीछे हानि पहुंचानेका उद्योग करता है। फिर दोनों कानके समीप आकर विचित्र शब्द करता है अर्थात् लोप-चोपभरे ध्वन्यात्मक शब्दोंसे मीठी मीठी बातें करता है। जैसे मच्छर रोमकूपके छिद्रमें घुसजाता है ऐसे ही दुर्जन भी आपत्ति देखकर अपना दाव लगाता हुआ निःशंक होकर नाना प्रकारकी बुराइयां करने लगजाता है। कवि कहता है; कि दुर्जनोंका सब आचरण यह मच्छर दिखलाता है। अभिप्राय यह, कि पापियों और खलोंका आचरण ठीक-ठीक मशकके समान है।

**" दुर्जनो नार्जवं याति सेव्यमानोऽपि नित्यशः ।
स्वेदनाभ्यञ्जनोपायैः श्वपुच्छमिव नामितम् "**

(हितो० सु० १३७)

अर्थ— दुर्जनकी कितनी भी सेवा कीजिये पर वह सीधा कभी नहीं होगा जैसे कुत्तेके पुच्छको कितना भी तेल उबटन लगाकर सीधा कीजिये पर वह सीधा नहीं होसकता । अब दुर्जनकी पहचान बताते हैं ।

" दूरादुच्छ्रितपाणिरार्द्रनयनः प्रोत्सारितार्द्धासनो, गाढालिंगनतत्परः प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादरः । अन्तर्भूतविषो बहिर्मधुमयश्चातीवमायापटुः, को नामायमपूर्वनाटकविधिर्यः शिक्षितो दुर्जनैः ॥ पोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे, निर्वाते व्यजनं मदान्धकरिणां दर्पोपशान्त्यै शृणिः । इत्थं तद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ताकृता, मन्ये दुर्जन चित्तवृत्तिहरणे धातापि भग्नोद्यमः " (हितो० सु० १६४, १६५)

अर्थ— आतेहुए देखकर दूरसे हाथ उठाना, आंखोंसे स्नेह प्रकट करना, अपना आधा आसन बैठनेकेलिये देना, बडी दृढता के साथ बलपूर्वक हृदयमें लगाकर मिलना, मीठी-मीठी बातें करनी प्रश्नका उत्तर बडे आदरके साथ देना, भीतरसे तो विषके समान जान-मारनेका यत्न करना और बाहरसे अमृतके समान मधुरता दिखलानी न जाने यह कौनसे अपूर्व नाटककी मायासे भरा व्यवहार है जिसे दुर्जनोंने सीखरखा है ॥ १६४ ॥

समुद्रके दुस्तर गंभीर जलके पार होजानेकेलिये नौका, अन्धकारके दूर करनेकेलिये दीपक, ग्रीष्म ऋतुमें तापको हटानेकेलिये पंखा और मदान्धहस्तीके मद शान्त करनेकेलिये अंकुश, इत्यादि

देखकर यों प्रतीति होती है, कि ऐसी कोई कठिनता पृथ्वीपर नहीं है, जिसको दूर करनेके उपायकी चिन्ता विधाताने न की हो अर्थात् सर्व प्रकारकी चिन्ताओंके दूर करनेका उपाय विधाताने रचा, पर मैं तो ऐसा जानता हूं, कि दुर्जनके चित्तकी वृत्ति हटानेका उपाय विधाताको भी न सूझा इसलिये भग्नोद्यम होकर चुप बैठ रहे ॥ १६५ ॥

मुख्य तात्पर्य यह है, कि ऐसा कोई कुकर्म पृथ्वी-मण्डलमें नहीं है जिसको दुर्जन आनन्द पूर्वक करनेको उद्यत न होजावे। सोतेहुए का गला काटदेना, बच्चे और स्त्रियोंको तथा गैया और ब्राह्मणोंको मारदेना, घरोंमें आग लगादेनी; विष देना, अन्त्यज अर्थात् भंगी और चर्मकारोंकी स्त्रियोंसे क्रीडा करनी तथा गुरु शय्यामें भी बिहार करना, मद्यपानादिमें रुचि रखनी, चोरीकरनी, इत्यादि जितने दुष्कर्म हैं सब दुर्जनोंके शरीरमें रहते हैं। वरु दुर्जन तो पापका एक शरीर ही बनाहुआ है। सो दिखलाते हैं—

द्विजादिहत्या मूर्द्धानं मदिरापानलोचनम्।
सुवर्णस्तेयवदनं गुरुतल्पगतिश्रुतिम् ॥
स्त्रीहत्या नासिकं चैव गोहत्यादोषबाहुकम्।
न्यासापहरणग्रीवं भ्रूणहत्या गलन्तथा ॥
परस्त्रीगति तुक्कालं सुहल्लोकवधोदरम्।
शरणापन्नहत्यादि नाभिं गर्वकथाकटिम् ॥
गुरुनिन्दा सक्थिभागं कन्याविक्रयशेफसम्।
विश्वासवाक्यकथनपायुं पितवधांघ्रिकम् ॥

उपपातकरोमाणं महाकायंभयंकरम् ।
कृष्णवर्णं पिंगनेत्रं स्वाश्रयात्यन्तदुःखदम् ॥
(पाद्मे क्रियायोगसारे अ० २१)

ब्राह्मणोंकी हत्या तो इसका मस्तक है, मदिरापान इसके लोचन हैं, सुवर्णकी चोरी इसका मुख है, गुरुपत्नीसे भोग करना इसके कान हैं, स्त्री हत्या इसकी नासिका है, गो हत्या दोनों भुजाएं हैं, न्यासका हरण करलेना इसका कण्ठ है, भ्रूणहत्या (गर्भके बच्चेको मारना) तो गला है, परस्त्रीगमन इसकी छाती है, सुहृदोंका बध करना इसका पेट है, शरण आएहुएको मारना इसकी नाभि है, गर्वसे कथा करनी इसकी कटि है, गुरु निन्दा इसकी सक्थिभाग है, कन्या वेचनी इसका शेफ है, विश्वासका वचन बोलना इसका पायु है, पितृवध करना इसके चरण हैं और इनसे इतर जितने प्रकारके उपपातक हैं सब इसके रोम हैं । एवम् प्रकार इसका भयंकर शरीर काला रंग कुइस आंख अपने आश्रय रहनेवालोंको अत्यन्त दुःखदायी है । इसी प्रकार पापका स्वरूप पापात्मा अर्थात् दुर्जनके शरीरके भीतर निवास करता है ।

अब ऐसे पापीको मरनेके पश्चात् यमदूत मुद्गरोंसे मारतेहुए नाना प्रकारके क्लेश देतेहुए कैसे मार्ग होकर नरकमें लेजाते हैं ? सो वर्णन

टिप्पणी— पापात्मनां शृणु गतिं विस्तरेण वदाम्यहम् ।
षडशीतिं सहस्राणि योजनानि दुरात्मनाम् ॥

करते हैं— इस मार्गके वर्णन करनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि प्राणी इसे पढ कर दुर्जनताको छोडे। जो इस घोर दुःखका वृत्तान्त पढकर भी दुर्जन ही रहा, तो जानो ! ब्रह्मदेवसे भी उसके स्वभाव तथा उस को नरकोंसे छुडानेका कोई उपाय नहीं बन सकता।

प्रोक्तो मार्गस्य विस्तारः सर्वदुःखान्वितस्य च।
क्वचित्क्वचिज्ज्वलद्वह्निः सन्तप्तः कर्दमः क्वचित् ॥
क्वचित् क्वचित् द्विजश्रेष्ठ ! सन्तप्तं ताम्रवालुकम्।
क्वचित् क्वचित तीक्ष्णशिलाः क्वचित्तप्तशिलास्तथा ॥
क्वचित् क्वचिच्छस्त्रवृष्टिः क्वचिदंगारवर्षणम्।
उष्णाम्बुवर्षणं क्वापि क्वचित्पाषाणवर्षणम।
ज्वलदग्निरिव क्वापि सन्तप्तो वाति मारुतः ॥
गम्भीरा अन्धकूपाश्च तृणावृतमुखा द्विज !।
क्वापि कंटकवृक्षाश्च नाराचसमकंटकाः।
पाषाणश्रेणयः क्वापि दुरारोहा सपन्नगाः ॥
क्वचिद्गाढान्धकारश्च क्वचिच्छोणितवर्षणम्।
क्वचिद्दीर्घावृताश्च क्वचित्काशाः क्वचित्शराः।
एवं बहुविधक्लेशे छायाजलविवर्जिते ॥
तस्मिन्मार्गे द्विजश्रेष्ठ ! पापिनो यान्ति दुःखिनः।
नग्ना विमुक्तकेशाश्च प्रेताकारा भयंकराः।
गच्छन्ति पापिनस्तत्र शुष्ककण्ठोष्ठतालुकाः ॥

अर्थ — पापात्माओंकी दुर्गति विस्तारपूर्वक कहता हूं सुनो— जिस मार्ग होकर पापात्मा घसीटेजाते हैं वह मार्ग ८६००० (छियासी हजार)

आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि योगारूढ प्राणियोंमें श्रेष्ठ और उत्तम वही है, जिसकी दृष्टिमें उक्त नवों प्रकारके मनुष्य एक समान हैं । जिसे किसीसे रागद्वेष नहीं है और ऐसे नरकगामी पुरुषोंसे भी जो घृणा नहीं करते। क्योंकि जो प्राणी सब कामनाओं से रहित होकर केवल ध्यान-योगद्वारा भगवत्स्वरूपमें मग्न रहा चाहता है, उसे अन्य किसी प्रकारका व्यवहार ही नहीं है, जिसके लिये वह किसीसे कुछ सम्बन्ध रक्खे। हां! उससे वैर विरोध करने-वाले प्राणी हों तो हों, पर वह तो सबोंको समान देखता है। इसी कारण भगवानने ऐसे प्राणीको अन्य प्रकारके सब योगियोंमें श्रेष्ठ कहा।

योजन अर्थात् ६८८००० (छै लाख अठासी हजार) मील लंबाईमें है जिसमें सर्व प्रकार के दुःख भरेहुए हैं । कहीं-कहीं तो आग जलरही है, कहीं गरम दलदल है, कहीं-कहीं तांबेकी वालुकाएं अत्यन्त गरम करके मार्गपर बिछायी हुई हैं, तलवारकी धारके समान कटेहुए पत्थर मार्गपर पडे हैं, कहीं-कहीं ऊपरसे नाना प्रकारके शस्त्रोंकी वर्षा होरही है, कहीं-कहीं अग्निके अंगारोंकी वर्षा होरही है, कहीं गरम जलकी तथा कहीं पत्थरोंकी वर्षा होरही है, जलतीहुई अग्निके समान गरम वायु वहरही है। कहीं-बीच मार्गमें वडे वडे अँधेरे कूप हैं जिनका मुख घाससे वन्द किया है जहां पांव पडते ही प्राणी नीचे जागिरता है, कहीं-कहीं कांटेके वृक्ष हैं जिनमें वाणोंके समान कांटे लगे हैं, कहीं-कहीं पत्थरोंके ढेरमें सांप लटके हुए हैं, कहीं घोर अन्धकार है, कहीं रुधिरके मेघ वृष्टि कररहे हैं, कहीं वीरण (कटैले थूहर) के वृक्ष और कहीं-कहीं काश और कहीं शरोंके वृक्ष हैं जिनपर होकर यमदूत इन पापियोंको घसीटते हैं। इस प्रकार पापियोंके मार्गमें नाना प्रकारके क्लेश भरेहुए हैं न तो वहां छाया है और न जल है इसी मार्ग होकर पापी जाते हैं। नंगे वदन, केश छूटेहुए, प्रेतके आकारमें वडे भयंकर मारे प्यासके जिनके कण्ठ ओष्ठ और तालू रूखे रहते हैं।

योगारूढ प्राणियोंको किन-किन गुणोंसे युक्त होना चाहिए ? सो भगवान् यहांतक कहचुके ॥ ९ ॥

अब आगे १० वें श्लोकसे ३२ वें श्लोक पर्यन्त भगवान् योगारूढ पुरुषोंकेलिये योगकी रीति बतावेंगे । अधिकारी पुरुष इनपर पूर्ण ध्यान देकर पढें और इनके अनुसार आचरण करें, तो भगवत्स्वरूपमें प्रवेश करजाना उनकेलिये दुस्तर नहीं है ।

मू०— योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

पदच्छेदः— योगी (योगाभ्यासपरः) सततम् (निरन्तरम्) रहसि (गिरिगुहादौ। योगप्रतिवन्धकदुर्जनादिवर्जिते स्थाने) स्थितः [सन्] एकाकी (संगशून्यः) यतचित्तात्मा (वशीकृतं चित्तमिन्द्रियाधिष्ठितदेहञ्च यस्य सः) निराशीः (निराकांक्षो । निराहारो वा) अपरिग्रहः (कन्थापुस्तकादि बहुपरिग्रहशून्यः । योगप्रतिवन्धकपदार्थशून्यो वा) आत्मानम् (अन्तःकरणम्) [निरोधमभ्यास्] युंजीत (समादध्यात्) ॥ १० ॥

पदार्थः— (योगी) योगाभ्यासमें तत्पर रहनेवाला प्राणी (सततम्) सदा (रहसि) एकान्तस्थानमें (स्थितः) निवास करता हुआ (एकाकी) अकेला (यतचित्तात्मा) अपने मनको और इन्द्रियोंके सहित देहको वश कियेहुए (निराशीः) सर्व कामना रहित अर्थात् आहार रहित हो (अपरिग्रहः) कन्था, पुस्तकादि अधिक बखेडोंको न रखकर (आत्मानम्) अपने अन्तःकरणको योग-क्रियामें

(युंजीत) लगावे। अर्थात् चित्तको समाधानकर सर्व-चिन्ता-वर्जित हो भगवत्स्वरूपमें एकाग्र करदे ॥ १० ॥

भावार्थ: — योगाभ्यासियोंको अपने योग साधन निमित्त पहले क्या करना चहिये ? सो भगवान् कहते हैं, कि [योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः] योगी अभ्यास आरंभसे पहले गिरिगुहा इत्यादि किसी प्रकारके शून्य-स्थान में निवासकर सदा अपने आत्माको स्थिर करे अर्थात् अन्तःकरणको और इन्द्रियों सहित अपने शरीरको एक ठौर स्थिर रखनेका अभ्यास करे। क्योंकि जब ध्यानावस्थित होगा, उस समय यदि कोई क्लिष्ट वा अक्लिष्ट वृत्ति चित्तमें उदय होआवेगी तो अवश्य वह चित्तको चंचल करदेवेगी। क्योंकि वृत्तियां जब फुरना आरंभ करती हैं तो उनका एक तार बंधजाता है, अर्थात् एकके पीछे दूसरी लगातार उदय होती चली आती हैं और चित्तको ऐसी प्रबलताके साथ अपनी ओर खींचती हैं, कि बडे-बडे बुद्धिमानोंकी बुद्धि व्याकुल होजाती है। कोई बुद्धिमान् यह पता नहीं कहसकता, कि थोडी ही देर पहले जो चित्त एकाग्र था नजाने कब किस समय किस क्षणमें अपने हाथसे बाहर निकलगया ? इसकी एकाग्रताके यत्नमें बडे-बडे बुद्धिमान् और विवेकी ढीले होरहते हैं कोई उपाय हाथ नहीं आता। इसका कारण यह है, कि जबतक अपने साथ किसी प्रकारका व्यवहार बना रहेगा तबतक उस व्यहारकी पूर्ति और अपूर्तिके यत्नकी चिन्तामें वृत्ति दौडती रहेगी। क्योंकि उस व्यवहारकी स्मृतिरूप वृत्ति अधिक सताती है। प्रमाण; " अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः " (पतं० अ० १ सू ११) ;

अर्थ— जिन विषयोंका पहले अनुभव कियाजाता है अर्थात् जो-जो विषय अन्तःकरणके सम्मुख होकर प्रवाह करते हैं, अन्तःकरणपर उनका संस्कार जमजानेसे उनके त्याग न होनेका नाम स्मृति है । सो प्राणीके अन्तःकरणमें वार—बार विना बुलाये आपसे आप उदय होतीरहती है, उसके आरम्भसे परिणामतक जितनी बातें उस स्मृतिके अन्तर्गत होती हैं सब अन्तःकरणको ढकलेती हैं । चाहे प्राणी स्वयं उनका स्मरण करे वा न करे, पर अन्तःकरणपर उनका संस्कार जमे रहनेके कारण वे आपसे आप स्मरण होती रहती हैं । इसलिये चित्तको क्षणमात्र भी एकाग्र नहीं होने देतीं । सभी इस बातका अनुभव करते हैं, कि जब कोई मूर्ख वा विद्वान चुप होकर थोडी देरकेलिये बैठजाता है तो किसी न किसी व्यवहारकी चिन्ता उसके चित्तमें उदय होआती है । जैसे किसीका पुत्र रोगग्रस्त होगया हो तो जिस समय वह हाथमें माला लेकर बैठेगा, तब दो चार मणिकातक तो उसकी वृत्ति जपमें रहेगी, फिर न जाने कब किस मणिकापर अंगुली रखते उसकी मनोवृत्ति पुत्रकी औषधी करने चलीजावेगी, वह उसे स्वयं नहीं पकडसकता, फिर तो उसके सामने जितने वैद्य और चिकित्सक (Doctor) हैं सबोंकी मूर्त्तियां आखडी होंगी । नाना प्रकारकी औषधियोंको पात्रोंमें देखने लगजावेगा । यहांतक, कि हाथकी माला गिर पडेगी तब उसको चेत होगा, कि मैं कहां हूं । इसलिये जबतक प्राणी सर्वप्रकारके व्यवहारोंको छोड एकान्तमें नहीं जा बैठेगा तबतक चित्तका समाधान होना असंभव है । इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि (रहसि स्थितः) योगाभ्यासी किसी पर्वतकी कन्दरामें

अथवा किसी ऐसे ठौरमें जहां मनुष्योंका प्रवेश न हो, विविक्त-स्थान हो, सुन-सान हो और किसी प्रकारका उपद्रव न हो, जा बैठे। जैसे सर्प अपना कैंचुल छोड सब ओरसे निश्चिन्त हो अपने बिलमें जा बैठता है, इसी प्रकार एकान्तस्थानमें जा बैठे। पर इतना स्मरण रखना चाहिये, कि यदि उस एकान्तस्थानमें भी दो चार चेलोंको लियेजावेगा, तो वे चेले उसे भोजन वस्त्रकेलिये सतावेंगे, फिर तो उनके पालन पोषण निमित्त उसे कुछ न कुछ यत्न करना ही पडेगा। इस-लिये भगवान् कहते हैं— [**एकाकी यतचित्तात्मा निराशीर-परिग्रहः**] अकेला हो किसीका साथ न करे। यदि शंका हो, कि चेला नहीं साथ रहनेसे सेवा कौन करेगा? तो उत्तर इसका यह है, कि सेवाकी कोई आवश्यकता न रखे। किसी नदीके तटपर वा पर्व-तके झरनोंके किनारे निवास करे। जहां आप अपने हाथमें जलपात्र लेकर शरीरके कर्मोंके सम्पादनकरलेनेका अभ्यास करलेवे। भोजनकेलिये अपने हाथसे कन्द मूल फल ले आयाकरे। यदि कोई बस्ती समीप हो तो केवल सूर्य्यास्तके समय एकबार भिक्षा करलावे और अकेला ही रहे, पर अकेला रहनेमें एक भय यह भी है, कि जो कोई सुन्दर स्त्री अक-स्मात् उधर होकर अकेली निकलपडी और हमारे योगीजीका चित्त मोहित करलिया, तो सारा बना-बनायाघर बिगडगया। किसीने कहा "**मृगनयनीके नयनसर उठत मदन तनजाग। गयो कमण्डल झाडमें टर्रानो वैराग ॥**"

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि "**यतचित्तात्मा**" अर्थात् जब एकान्त हो और अकेला निवास करे, तो "**यतचित्तात्मा**" भी

अवश्य हो। अर्थात् अपने चित्तको इन्द्रियों सहित अपने वशीभूत रक्खे। अर्थात् फिर " निराशी " हो, किसी विषयकी इच्छा न करे, सर्व विषयोंकी इच्छामात्रसे वर्जित हो। अथवा निराशीका निराहार भी अर्थ होसकता है। क्योंकि एकान्त-निवासमें सदा कन्द मूलका मिलना अथवा उसके समीपके एक ही ग्रामसे नित्य भिक्षा मिलनी असम्भव है इसलिये कभी-कभी निराहार रहनेका भी अभ्यास रखे।

अब शंका यह है, कि उपर्युक्त सर्वगुणोंसे सम्पन्न भी हो, पर संगमें थोडी वस्तु-तस्तु रक्खे तो उनकी रक्षाकी चिन्ता अवश्य सतावेगी, इसलिये भगवान कहते हैं कि "अपरिग्रहः" भी हो अर्थात् किसी प्रकारकी वस्तु-तस्तु भी साथ न रखे, केवल शरीरके आच्छादनमात्र जो वस्त्र शरीरमें लगा हो रहनेदेवे। दो लँगोटियोंके साथ शीतसे रक्षानिमित्त एक कम्बल मात्र रखे। इतना ही नहीं वरु अभ्यास द्वारा शीत और उष्णके सहनेका भी अभ्यास प्राप्त करले।

इसी विषयको भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि " निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः " (अ० ४ श्लो० २१) तहां श्रुतिका भी वचन है, कि " कुटुम्बं विसृजेत्पात्रं विसृजेत्पवित्रं विसृजेद्दण्डांश्च लौकिकाग्नींश्च विसृजेदिति होवाच " (आ० श्रु० २)

अर्थ—कुटुम्बियोंको त्यागे (पवित्रम्) जल शोधनेके वस्त्रको भी त्यागदेवे ब्रह्मचर्य्यके समय जो दण्डधारण किया था उसे भी त्याग देवे और लौकिकाग्नियोंको भी त्यागदेवे । ऐसी आज्ञा प्रजापतिने आरुणेयी ऋषिको दी है।

इस श्रुतिके अनुसार ही भगवान्‌ने इस श्लोकमें सन्न्यासके सब धर्म्मोंको प्रकट करदिया है । इससे अनुभव होता है, कि योगारूढ प्राणी अर्थात् ध्यानयोगी किसी न किसी समय सन्न्यास अवश्य ग्रहण करे। क्योंकि जबतक प्राणी सर्व प्रकार काम्य कर्मोंका त्याग नहीं करेगा तबतक ध्यानयोगका अधिकारी हो ही नहीं सकता । इसलिये भगवान्‌की आज्ञानुसार जो निराशी और त्यक्तसर्वपरिग्रह है वह सन्न्यासीही है । अथवा यों कहो, कि वह सन्न्यास पदपर चढाहुआ है, सन्न्यासके घरमें घुसाहुआ है। इस ध्यानयोगका साधन करनेसे उसका सन्न्यास धर्म-पूर्ण हो ही जावेगा । परिणाम यह होगा, कि ×कुटीचक बहूदक और हंस सन्न्यासके इन तीन श्रेणियोंको समाप्तकर अन्तमें परमहंस होजावेगा, जहां जाकर सर्वप्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित जीवन्मुक्तकी पदवी प्राप्त करेगा । फिर तो वह चाहे एक स्थानमें निवास करे चाहे जहां तहां फिरता रहे। इसी अवस्थाकी प्राप्ति निमित्त श्री आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र एकान्तमें निवासकर इस योगक्रियाके साधनकी शिक्षा देरहे हैं ।

प्रश्न— क्या योगक्रिया केवल सन्न्यासी ही करसकता है ? ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ इसके अधिकारी नहीं हैं ?

उत्तर— ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमोंके जो भिन्न-भिन्न कर्म बतायेगये हैं वे इसी तात्पर्य्यसे बतायेगये हैं, कि प्राणी धीरे-धीरे उन्नति करता

× सन्न्यासकी ये चारों श्रेणियां हैं— १. कुटीचक, २. बहूदक, ३. हंस और ४. परमहंस साधकोंको क्रमशः एक दूसरेपर चढना पडता है।

एवम् प्रकार एकान्तस्थानमें एकाकी होकर जितेन्द्रिय योगी सब बखेडोंको त्याग आगे क्या करे ? सो भगवान् कहते हैं—

मू०— शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
॥ ११, १२ ॥

पदच्छेदः— यतचित्तेन्द्रियक्रियः (निगृहीता चित्तस्यान्तःकरणस्य विषयाणां स्मरणरूपेन्द्रियाणां च विषयग्रहणरूपा क्रिया येन सः) आत्मनः (स्वस्य) आसनम् (आस्यते उपविश्यते यस्मिन् तन्मृन्मयं स्थण्डिलम्) न (नहि) अतिउच्छ्रितम् (अत्युच्चम्) न (नैव) अतिनीचम् (अत्यधस्थम्) चैलाजिनकुशोत्तरम् (वस्त्रं व्याघ्रादिचर्म ते कुशेभ्य उत्तरे उपरितने यस्मिन्तत्) शुचौ (स्वभावतः संस्कारतो विशुद्धे) देशे (जनसमुदायरहिते निर्भयगंगातटगुहादौ समे स्थाने) स्थिरम् (निश्चलम्) प्रतिष्ठाप्य (स्थापयित्वा) तत्र, आसने, उपविश्य (उपवेशनं कृत्वा) मनः (अन्तःकरणम्) एकाग्रम् (क्षिप्तमूढविक्षिप्तभूमित्यागेन समाहितम्) कृत्वा, आत्मविशुद्धये (अविद्यापंकनिवृत्तिद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतायै) योगम् (संप्रज्ञातसमाधिम्) युंज्यात् (अभ्यसेत् अनुतिष्ठेद्वा) ॥ ११, १२ ॥

पदार्थः— (यतचित्तेन्द्रियक्रियः) चित्तकी क्रिया अर्थात् स्मृति और इन्द्रियोंकी क्रिया जो इनही विषयोंका ग्रहण इन दोनोंको जिसने वश करलिया है ऐसा प्राणी (आत्मनः) अपने (आसनम्) आसनको, जो (न, अति) न बहुत (उच्छ्रितम्) ऊँचा हो (न, अति) न बहुत (नीचम) नीचा हो (चैलाजिनकुशोत्तरम्) जिसपर पहले कुश तिसपर मृग वा व्याघ्रका चर्म फिर कोमल वस्त्र बिछाया हो (शुचौ, देशे) पवित्र स्थानमें (स्थिरम्) निश्चलरूपसे (प्रतिष्ठाप्य) स्थापन करके (तत्र,) तहां (आसने) तिस आसनपर (उपविश्य) बैठकर (मनः) मनको (एकाग्रम्) एकाग्र (कृत्वा) करके (आत्मविशुद्धये) अपने आत्माको अविद्यारूप मलसे रहितकर ब्रह्मसाक्षात्कार करनेकेलिये (योगम) संप्रज्ञात् समाधिमें (युंज्यात्) युक्तकरे अर्थात् अपनेको ध्यानयोगमें जोडदेवे ॥ ११, १२, ॥

भावार्थः— श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्द्र पिछले श्लोकमें जो आज्ञा देचुके हैं, कि योगी एकाकीहोकर एकान्तस्थानमें चलाजावे और यतचित्तात्मा हो। तिसे आगे क्या करना चहिये ? सो इस श्लोकमें कहते हैं— [**शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः**] प्रथम अपने आसनको निश्चलरूपसे किसी पवित्र स्थानमें स्थापन करे अर्थात जो स्थान स्वभावतः पवित्र हो अथवा संस्कारतः पवित्र कियागया हो। जैसे गंगा यमुना इत्यादि नदियोंके तट और बदरी केदारादि जो तीर्थ-स्थान पवित्र कहेजाते हैं। भगवान् कहते हैं, कि ऐसे पवित्र स्थानमें अपने आसनको स्थिररूपसे

अर्थात् निश्चल करके स्थापनकरे । जैसे मिट्टीकी वेदी बनाते हैं इस प्रकारकी वेदी बनावे, काष्ठादिका आसन न बनावे । क्योंकि काष्ठादिके आसन एक तो स्थिर नहीं रहते, दूसरे सदा पृथ्वीपर रहनेसे जब सडजाते हैं तब उनमें कीडे इत्यादि प्रवेश करजाते हैं । इसलिये कांष्ठका आसन केवल ब्रह्मचारी और गृहस्थोंकेलिये है जो जीर्ण होने परे नवीन बना सकते हैं । एकान्तबासीको जीर्ण होनेपर दूसरे आसनकी प्राप्ति निमित्त यत्न करना पडेगा अतएव केवल मिट्टीकाही आसन बनावे। सो कैसा होना चाहिये ? भगवान कहते हैं, कि [नात्युच्छ्रितं नातिनीचम्‌ चैलाजिनकुशोत्तरम्] न तो बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा हो, सम हो अर्थात् एक वितस्तमात्रसे अधिक ऊँचा न हो । फिर कैसा हो, कि पहले उसपर कुश बिछाया जावे फिर उस कुशपर मृग अथवा व्याघ्र-चर्म बिछा हो और उस चर्मपर कोमल वस्त्र हो। श्रु०— " ॐ निःशब्ददेशमास्थाय तत्रासनमवस्थितः " (क्षुरिको० श्रु० २)

अर्थ— निश्शब्द अर्थात शून्य देशमें उक्त प्रकारका आसन स्थापन करलेवे ।

शंका— पूर्व श्लोकमें तो कह आये हैं, कि एकान्तवासी योगी अपरिग्रह हो किसी प्रकारका पात्त आदि साथ न रखे, वस्त्रादि भी न रखे। अब कहते हैं, कि मृगचर्म अथवा व्याघ्रचर्म भी हो फिर वस्त्र भी हो। जब इतनी वस्तु रखनी ही है तो दोएक पात्त भोजन अथवा जलपीनकेलिये क्यों न रखे ?

समाधान— आसनवाले वस्त्र अथवा मृगचर्मादि तो शरीरके नीचें दबे रहते हैं इसलिये उनकी रक्षाकी चिन्ता कुछभी न होगी। पर जो धातु इत्यादिके पात्र शरीरसे भिन्न हैं अथवा कौपीन वा आसनसे इतरे जो किसी प्रकारके वस्त्र शरीरकी शोभा निमित्त हैं वे न रक्खेजावें। सन्यासी केवल काष्ठ वा लौकीका तूंबा साथ रक्खे। जिसे चौरादि भी नहीं लेसकते। उनकी रक्षाकी चिन्ता न रहेगी। परिग्रह शब्दसे उनही वस्तु-तस्तुओंका तात्पर्य्य है जो चौरादि लेजासकें, अतएव इस प्रकारके पात्रादि न रक्खे। इसी कारण भगवान्‌ने "अपरिग्रहः" कहा है।

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार आसनको निर्म्मल, स्वच्छ और दृढ अर्थात् निरुपद्रव बनाकर [**तत्रैकाग्र्यम्मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः**] तहां अपने मनको एकाग्र करके यतचित्तेन्द्रियक्रियः होकर योग आरंभ करे। यतचित्तेन्द्रियक्रिय किसे कहते हैं? सो सुनो! चित्तकी क्रिया जो विषयोंकी स्मृति और इन्द्रियोंकी क्रिया जो विषयोंका ग्रहण इन दोनोंको अपने वशमें रखे अर्थात् न तो कभी विषयोंकी स्मृति करे और न उनका ग्रहण करे। यदि ऐसा कहो, कि जिस वस्तुकी स्मृति नहीं होगी उसका ग्रहणभी नहीं होगा फिर भगवान्‌ने दोनों बातें एकसाथ क्यों कही? क्योंकि चित्तकी क्रिया हाथमें आतेही इन्द्रियोंकी भी क्रिया रुक जावेगी। जैसे किसी घडीके स्प्रिंगके रुकतेही उसके अन्य सब यंत्र आपसे-आप रुकजाते हैं। ऐसे चित्तके निरोध होतेही इन्द्रियां भी निरुद्ध होजावेंगी फिर भगवान्‌ने यहां "यतचित्तेन्द्रियक्रियः" चित्त और इन्द्रिय दोनोंके नाम क्यों

लिये ? तो उत्तर यह है, कि संभवतः चित्तकी क्रिया तथा स्मृति तो रुकजावे पर इन्द्रियोंमें विषय ग्रहण करनेकी शक्ति बनी रहे, तो चित्तके शान्त रहतेभी इन्द्रियां उसे अपनी ओर खींचेगी। क्योंकि भगवान पहलेही कह आये हैं, कि " **इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति-प्रसभं मनः** " (देखो अ० २ श्लो० ६०) अर्थात् ये बलवती इन्द्रियां बलात्कार मनको अपनी ओर खींचती हैं इसलिये जबतक इन्द्रियोंमें ग्रहण करनेकी शक्ति बनी रहेगी तबतक ये इन्द्रियां चित्तको बिगाडती रहेंगी। इसी कारण भगवान्ने यों कहा, कि इन्द्रियोंकी क्रियाकोभी जिसने रोका है अर्थात् स्मृति और ग्रहण दोनोंको त्याग दिया है जिसने, वही अधिक यत्नशील है, उसीको " **यतचित्तेन्द्रिय-क्रियः** " कहते हैं।

यदि यह कहो, कि चित्तका स्वभाव स्मरण करनेका है और इन्द्रियोंका स्वभाव ग्रहण करनेका है। जिस द्रव्यका जो स्वभाव है वह द्रव्य जबतक स्वयं नाश न होजावे तबतक उसके स्वभावका नाश नहीं होता। जैसे अग्नि जबतक स्वतः नाश न हो तबतक उसकी दाहिका-शक्तिका नाश नहीं होसकता। इसी प्रकार जबतक चित्त और इन्द्रियां दोनोंका स्वरूपतः नाश न होजावे तबतक चित्तमें स्मृति और इन्द्रियोंमें रूप रस ग्रहणकी शक्ति बनी रहेगी। जबतक प्राणीका प्राण न निकलजावे तबतक इन दोनोंमें किसीका भी नाश नहीं होसकता। इससे अनुभव होता है, कि जीते–जीते तो चित्त और इन्द्रियोंका नाश नहीं होसकता। जब इनका स्वतः नाश नहीं हुआ तो इनकी क्रियाका अर्थात् इनके स्वभावका भी नाश कैसे होसकता है ? इससे

सिद्ध होता है, कि यतचित्तेन्द्रियक्रिय कोई होही नहीं सकता ? ऐसा मत कहो ! जैसे कूकर शूकर इत्यादि नीच जीवोंको मलमांसादि भ्रष्टरस ग्रहण करनेका विशेष स्वभाव फैलाहुआ है, यदि उनको उन भ्रष्ट रसोंके बदले मधुर अन्न इत्यादि उत्तमरस देदियेजावें तो वे उन भ्रष्ट रसोंको त्याग उन उत्तम रसोंका ग्रहण करने लगजावेंगे। फिर तो उत्तमरस ग्रहण करते-करते भ्रष्ट रसोंका ग्रहण छूटजावेगा। इससे सिद्ध होता है, कि ग्रहण करनेका उनका स्वभाव तो बनाही रहा केवल भ्रष्टरसके बदले उत्तम रस ग्रहण करने लगगये। इसी प्रकार चित्तको शरीर अथवा पुत्र, पौत्रादि नश्वर वस्तुओंकी स्मृतिके स्वभावके बदले भगवत्स्वरूपकी स्मृतिमें प्रेम रसके ग्रहण करनेके स्वभावका अभ्यास करायाजावे तो इनका स्वभाव भी बनारहा और "यतचित्तेन्द्रियक्रिय" भी होगये अर्थात् द्रव्यका स्वभाव ज्योंकात्यों बना रहगया और मुख्य तत्पर्य्य भी निकलगया।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि चित्तको विषयस्मृतिके बदले भगवत्स्वरूपकी स्मृति देदीजावे और इन्द्रियोंको विषयरसके बदले प्रेमरस देदियाजावे तो चित्त भगवन्मूर्त्तिमें और इन्द्रियां प्रेमरसमें सदा मग्न रहकर अपने वशमें ही रहेंगी। इसी कारण भगवानके कथनानुसार यतचित्तेन्द्रियक्रिय होना असंभव नहीं है। शंका मत करो!

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकारे विषयोंसे चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाका रोकनेवाला [**उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये**] उक्त प्रकार यतचित्तात्माहोकर पहले जिस प्रकारका आसन कहआये हैं उस प्रकारका आसन बना, उसपर बैठ, केवल

आत्माकी शुद्धिकेलिये योग साधनकरे । अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिके योग्य अपनेको बनावे ।

जो प्राणी अविद्याके पंकमें गचपच होकर अपने यथार्थ रूपको भूलरहा है वह ध्यानयोगसाधनद्वारा अपनेको निर्म्मल और निर्विकार बनाकर अपना यथार्थरूप जो भगवत्स्वरूप है उसे जाननेका अधिकारी बनावे ।

भगवानने उपरोक्त दो श्लोकोंमें आसन बनानेका स्थान और आसनपर बिछानेकेलिये कुश इत्यादिका वर्णन किया ॥ ११, १२ ॥

अब भगवान अगले दो श्लोकोंमें यह बताते हैं, कि योगी चौरासीलक्ष आसनोंमें किस आसनको लगाकर बैठे—

मू०— समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥
॥ १३, १४ ॥

पदच्छेदः— स्थिरः (दृढप्रयत्नः) ब्रह्मचारिव्रते स्थितः (वीर्य्यनिरोधाभ्यासे दृढव्रतः) प्रशान्तात्मा (प्रकर्षेण रागादि दोष-रहितः आत्माऽन्तःकरणं यस्य सः) विगतभीः (व्याघ्रादि भयरहितः । मृत्युभयरहितः । सर्वकर्म परित्यागे युक्तायुक्तशंकारहितः) मच्चित्तः (मयि परमेश्वरे परमात्मनि सगुणे निर्गुणे वा अन्तःकरणं यस्य सः)

मत्परः (सर्वाराध्यत्वेन मामेव नित्यं मन्यते यः । परमानन्दस्वरूपत्वा-दहमेव परमपुरुषार्थो यस्य सः) **कायशिरोग्रीवम्** (कायः देहमध्य-भागः शिरः ग्रीवा च मूलाधारादारभ्य मूर्द्धान्तपर्य्यन्तम) **समम्** (अवक्रम्) **अचलम** (निष्कम्पम्) **धारयन** (स्थिरयन्) **दिश-श्चानवलोकयन** (अन्तरान्तरादिशांश्चावलोकनमकुर्वन्) **स्वम्** (स्वकी-यम्) **नासिकाग्रम्** (नासिकायाऽग्रभागम) **संप्रेक्ष्य** (संवीक्ष्य । अव-लोक्य) **मनः** (अन्तःकरणम्) **संयम्य** (विषयाकारवृत्तिशून्यं कृत्वा) **युक्तः** (विषयाकारवृत्तिनिरोधेन भगवदेकाकारचित्तवृत्तियुक्तः) **आसीत** (तिष्ठेत्) ॥ १३, १४ ॥

पदार्थः— (**स्थिरः**) जो प्राणी आसन लगाकर योगाभ्यास के लिये यत्न करनेमें दृढ होकर स्थिर होगया है (**ब्रह्मचारिव्रते-स्थितः**) अपने वीर्यके निरोधमें दृढव्रत होरहा है, (**प्रशान्तात्मा**) रागद्वेषादि विकारोंसे रहित शान्तचित्त होगया है (**विगतभीः**) एकान्त-वासमें एकाकी होनेपर भी जिसको व्याघ्रादिका भय नहीं है अथवा जो मृत्युके भयसे रहित होगया है तथा कर्मोंके त्यागने और न त्यागनेका भी भय जिसे नहीं है (**मच्चित्तः**) मुझ परमेश्वरमें जिसने अपना चित्त लगादिया है और जो (**मत्परः**) मेरा ही परा-यण है अर्थात् मुझहीको अपना इष्ट जानता है और अपना परम पुरुषार्थ मानता है वह प्राणी अपने आसनमें स्थित हो (**कायशिरो ग्रीवम्**) शरीरका मध्यभाग शिर और गलाको (**समम**) एक सीधमें (**अच-लम्**) बिना हिले डोले (**धारयन**) धारण कियेहुए ((**दिशश्चा-नवलोकयन्**) इधर उधर किसी दिशाको न देखता हुआ (**स्वं नासि-**

काग्रम्) अपनी नासिकाके अग्रभाग अर्थात नोंकको ही (संप्रेक्ष्य) देखताहुआ (मन: संयम्य) मनको विषयोंसे रोक (युक्त:) मुझमें एकाग्र-वृत्तिकर योगसाधनमें (आसीत) तत्पर होवे ॥ १३, १४ ॥

भावार्थ:— पूर्व श्लोकमें जो आसन बनाने और उसपर कुशादि बिछानेकी विधि कहआये हैं तिसके अनुसार किस आसन को लगा कैसे योगाभ्यास करे? सो स्पष्ट-रूपसे कहतेहुए श्री आनन्द-कन्द आज्ञा करते हैं, कि [समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं-स्थिर:] कटिसे लेकर ग्रीवाके नीचे तकके अंग अर्थात कटिप्रदेश, नाभि, हृदय और दोनों ओरके कन्धे सब एकसाथ मिल काया कह लाता है, सो इन सब अंगोंको तथा शिर और ग्रीवा (गलाको) एक सीधमें सीधा (vertical) करले जिससे शिखा सीधा आकाशकी ओर रहे अर्थात् शरीर ऐसा सीधा बनजावे, कि जिधरसे देखे उसी ओरसे शरीर समकोण (Right angle) बनाहुआ देख पडे । एवम् प्रकार सम्पूर्ण शरीरको अचलरूपसे स्थिर करे ।

मुख्य अभिप्राय भगवानके कहनेका यह है, कि सब आसनोंमें श्रेष्ठ जो सिद्धासन तिसे लगाबैठे । सो सिद्धासन बिना इन अंगोंके सीधा किये लगही नहीं सकता इसलिये सिद्धासनमें जो चिबुक (ठुड्डी) झुकाकर हृदयमें अडाई जाती है उसका विशेष तातपर्य यही है, कि ये सब अंग अचल होजावें हिलें-डोलें नहीं । इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि अचलरूपसे इन अंगोंको धारण करे । पश्चात [संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्] दशों दिशा-

आँखे दृष्टिको रोकेहुए नासाका अग्रभाग जो नासिकान्त उसे अवलोकन करे, अन्य किसी ओर दृष्टिको न जानेदेवे । क्योंकि इधर उधर दृष्टि-

टिप्पणी— पर ऐसा देखाजाता है, कि एकाएक नासिकाके अग्रभागको देखनेसे थोडी ही देरके पश्चात आंखें दुखने लगजाती हैं, मस्तकमें कुछ क्लेश होता है, इसलिये योगीको उचित है, कि नासाग्रावलोकनसे पहले त्राटकका साधन करलेवे । फिरतो घंटों नासाग्र देखा कीजिये न आंखें दुखेंगी और न मस्तकमें किसी प्रकारका क्लेश ही होगा ।

साधकोंके कल्याण निमित्त यहां त्राटकका वर्णन करदियाजाता है—

त्राटकः— निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥

अर्थ— नेत्रोंके सामने किसी प्रकारका एक सूक्ष्म-लक्ष्य बना रक्खे यदि ब्रह्मचारी वा गृहस्थ हो तो अपनी पूजाके घरकी दीवालपर एक काली गोल बिन्दु बना अथवा अपने इष्टदेवकी मूर्त्ति के दोनों भव्होंके मध्य ललाटस्थानमें एक कस्तूरीकी बेंदी लगा अपना लक्ष्य बनालेवे । इन्हींमें किसी एकपर अपने नेत्रोंको तब तक जमावे जबतक आंसु न निकले । यदि बानप्रस्थ, बनवासी वा एकान्त वासी हो तो वनमें किसी अपने सम्मुखवाले वृक्षकी किसी एक डालीके अग्रभागको अपना लक्ष्य बनाकर दोनों नेत्रोंसे पूर्ववत् देखता रहे । जब न देखसके, अश्रु आने लगजावें तब नेत्रोंको थोडी देरके लिये मींच रखे फिर उसी प्रकार अवलोकन करे। एवं प्रकार बार-बार अवलोकन करनेके पश्चात् जब नेत्र विना क्लेशके एक मुहूर्तमात्र ठहरने लगजावें तब सिद्धासन बांधकर पहले अपने दोनों नेत्रोंसे अपना नाभिको एक मुहूर्त्त मात्र अवलोकन करे, फिर वहांसे ऊपर अपने हृदयकी गहराईपर नेत्रोंको पूर्ववत् जमादेवे ।

एवम् प्रकार जब हृदयपर त्राटकका अभ्यास होजावे तब नेत्रोंकी दृष्टि हृदयसे उठाकर नासाग्रपर लेआवे अर्थात् नासाग्रका अवलोकन करे । जब एवम् प्रकार त्राटक-क्रिया सिद्ध करके नासाग्रका अवलोकन करेगा तब नेत्र नहीं दुखेंगे और न मस्तकमें व्यथा होगी ।

पात करनेसे कभी सुन्दर पुष्पोंसे लदे वृक्ष, कभी जलभरी उमडी काली घटा तथा कभी दामिनीकी दमक इत्यादिकी शोभा देख चित्त के चंचल होजानेका भय है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि अपनी नासिकाके अग्रभागको देखे अर्थात् अपने नेत्रोंको सब ओरसे रोककर केवल नासिकाका अग्रभाग अवलोकन करता रहे और नासिकाकी नोंकपर दृष्टि जमाये रहे। इस नासिकाके अग्रभाग (नोंक) के अवलोकनसे मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि नासिकाकी नोंकसे दृष्टिको ऊपरकी ओर नासिकाकी सीधीलकीर होकर भ्रूमध्यमें भउहोंतक पहुंचा, भीतरकी ओर ज्योतिका अवलोकन करे। यह क्रिया गुरुद्वारा जानने योग्य है।

ऐसा करते समय पलकें ऊपरसे गिरती हुई देख पडेंगी और पुतलियां ऊपरको चढते-चढते भ्रूमध्यमें अर्थात् दोनों भउहोंके मध्यमें पहुंचेंगी तहां प्रथम अन्धकार देख पडेगा, फिर लालरंग देख पडेगा, फिर तहां नेत्रोंको उसी प्रकार जमाते-जमाते सूर्य्यके समान ज्योतिका दर्शन होगा जिसे सुषिरमण्डल कहते हैं। जिसका वर्णन अध्या० ५ श्लोक० २८ में किया जाचुका है।

मुख्य तात्पर्य्य नासाग्रावलोनका यही है, कि भ्रूमध्यमें ज्योतिका दर्शन होवे। यदि किसीको शंका हो, कि न जाने भीतर ज्योति है वा नहीं? तो इस शंकाके दूर करनेके लिये यह अपने हाथकी तर्जनी और मध्यमासे दोनों नेत्रोंकी नीचेवाली नाडीको धीरे-धीरे दाबे, ज्योति अवश्य प्रकट होगी। तहां प्रत्यक्ष देखनेमें आवेगा, कि

सर्वत्र ज्योतिही ज्योति फैली हुई है। फिर तो आंखें खोलकर देखनेसे भी नीचेसे ऊपर तक ×ज्योतिही-ज्योति दीख पडेगी। इसी ज्योतिदर्शनके तात्पर्य्यसे भगवानने नासाग्रावलोकनकी विधि बतायी है। जो सिद्धासन लगाते-लगाते सिद्ध होजाती है। पाठकोंके कल्याण निमित्त उसी सिद्धासनकी विधि जिसका संकेत भगवान् इस श्लोकमें कररहे हैं, बतायाजाता है—

सिद्धासनम्— "योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्। मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्॥ स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरन्तरम्। ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते॥ (ह० प्र० द्वि० उ० श्लो० ३१ में देखो)

अर्थ— गुदा और उपस्थके मध्यस्थानमें जिसे योनिस्थान कहते हैं साधक अपने बायें पांवकी ऐंडी लगाकर दृढकर बैठजावे, फिर दायें पांवकी ऐंडीको गुरुकी बतायी हुई रीतिसे मेढ्रस्थान (नाभिसे नीचे शिश्नेन्द्रियसे उपरके भाग) में दृढकर स्थिरकरे और दोनों चरणोंकी पांचो अंगुलियोंको दोनों ओर जंघा और टांगोंके बीचमें प्रवेशकर दाबरखे। पश्चात् हृदयकी गहराईमें जो गलेसे नीचे है

× बहुतेरे आजकलके नवीन प्रकाशवाले मूर्ख इस ज्योतिर्दर्शनके विषयमें यों कहते हैं, कि आंखोंके टीपनेसे चकाचौंध लगजाती है पर यह चकाचौंध उनकी बुद्धिमें लगीहुई है आंखोंमें नहीं है। ईश्वर इनकी चकाचौंध छुडावे इनको सुबुद्धिदेवे और किसी गुरुका संगदेवे जिसके द्वारा इनको इस अमूल्य रत्नका लाभ हो।

अपनी चिबुक (ठुड्डी) को लगाकर स्थिर करे । एवम प्रकार स्थिर हो इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकेहुए दोनों पुतलियोंको मिला एक दृष्टिकर भृकुटीके बीचोंबीच भीतरेकी ओर देखता रहे । इसी आसनको मोक्षके कपाटका तोडनेवाला सिद्धासन कहते हैं ।

अब इस " सिद्धासन " की श्रेष्ठता वर्णन कीजाती है—

" चतुरसीति पीठेषु सिद्धमेव समभ्यसेत् ।
द्विसप्तति सहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥
आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम् ।
सदासिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात ॥ "

(हठयोगप्रदीपिका उ० द्वि० ३९, ४०)

यह सिद्धासन जो योगके चौरासी आसनोंमें श्रेष्ठ है उसे सदा अभ्यास करे । यह सिद्धासन शरीरके मुख्य बहत्तर हजार नाडियोंके मलको शोधन करनेवाला है । आत्माका ध्यान करनेवाला और मिताहारी अर्थात् प्रमाणसे पथ्य पदार्थोंका भोजन करनेवाला यदि बारहवर्ष पर्यन्त इस आसनका ही अभ्यास करे तो वह अवश्य निष्पत्ति-अवस्थाको प्राप्त होजावे अर्थात् उसका योग सिद्ध होजावे ।

इस आसनमें शरीर इधर उधर डोलता नहीं । चाहे जितने काल तक योगाभ्यासी इस आसनपर बैठा रहे क्लेश नहीं होता है । योगसूत्रके कर्त्ता महर्षि पतंजलि भी कहते हैं, कि " स्थिरसुखमासनम् " (पतं० अ० २ सू० ४६) अर्थात् वही आसन उत्तम है जिसके लगानेसे स्थिरता और सुख प्राप्त हो, सो स्थिरता और

सुख अन्य आसनकी अपेक्षा इस आसनमें विशेषतः अधिक होते हैं इसलिये इस आसनकी श्रेष्ठता कहीगयी ।

इस आसन लगानेवाले योगीको किन-किन गुणोंसे युक्त होना चाहिये सो भगवान कहते हैं, कि [प्रशान्तात्मा विगत-भीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः] प्रशान्तात्मा हो विगत भी हो और ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित हो। अर्थात् सर्व प्रकारकी चंचलतासे रहित एकाग्रचित्त हो और सर्वप्रकारके भयोंसे रहित हो। तात्पर्य्य यह है, कि जबतक प्राणी प्रशान्तात्मा नहीं होगा तबतक राग द्वेषके कारण शत्रु मित्रका भेद उसके मनमें लगा रहेगा वही मनकी चंचलताका कारण होगा। इसलिये इन विकारोंको परित्यागकर प्रशान्तचित्त होवे। इसी कारण भगवान कहते हैं, कि विगतभी हो अर्थात् ऐसी शंका न करे, कि मेरा शत्रु मुझको यहां एकान्तवासी अकेला जानकर किसी प्रकारका उपद्रव करेगा तथा व्याघ्रादि क्रूर जीव मुझे खाजावेंगे। ऐसी शंकाओंको एकदम छोडदेवे। क्योंकि जिस प्राणीने सब छोड-छाड़ उसी नारायण सर्वशक्तिमान्‌में चित्तलगाया है, उसीको अपना सच्चा रक्षक जाना है उसे क्या वह भगवत् अपना ध्यान करतेहुए नहीं बचावेगा? उसके शत्रुओंको क्या दण्ड नहीं देगा? प्रह्लादकेलिये क्या हिरण्यकशिपुको नहीं फाडखायगा? फिर भय कैसा?

वनमें एकाकी रहनेसे फिर ऐसा निर्भय योगी ब्रह्मचर्य्यव्रतकाभी पालन करनेवाला हो चाहे सुन्दरसे सुन्दर अप्सरा उसके सम्मुख क्योंन आजावे उसे कुत्तेके उवान्तके समान जाने। एवम्प्रकार ब्रह्मचर्य्यव्रतमें स्थित होवे अर्थात् अपने वीर्य्यके निरोधमें तत्पर

(⊛ आठों प्रकारके मैथुनसे वर्जित होवे । इस व्रतके पालनसे क्या लाभहोता है ? इस विषयमें पतञ्जलि कहते हैं— "ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां-वीर्य्यलाभः" (पतं० अ० २ सू० ३०) जो प्राणी ब्रह्मचर्य्यव्रतमें प्रतिष्ठित है उसको बल और पराक्रमका लाभ होता है, किसी प्रकारके रोगादिका उपद्रव भी नहीं सताता, अन्तःकरणमें स्थिरता प्राप्त होती है और इन्द्रियोंके दमन करनेकी सामर्थ्य प्राप्त होती है । इसी सूत्रका भाष्य करतेहुए व्यासदेव कहते हैं, कि "यः किलब्रह्मचर्य्यमभ्यस्यति तस्य तत्प्रकर्षान्निरतिशयं वीर्य्यं सामर्थ्यमाविर्भवति । वीर्य्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्य्यं तस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनः सवीर्य्यं प्रकर्षमागच्छति ।"

अर्थ— जो प्राणी निश्चयकरके ब्रह्मचर्य्यका दृढ अभ्यास करता है तिसे उस ब्रह्मचर्य्यकी पूर्त्ति करलेनेसे अत्यन्त बल और अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है । वीर्य्यके निरोध करनेहीको ब्रह्मचर्य्य कहते हैं, तिसको पूर्णकरलेनेसे अर्थात् उच्च श्रेणीका ब्रह्मचर्य्य प्राप्त करलेनेसे शरीर, इन्द्रिय और मन अत्यन्त श्रेष्ठ प्रकारकी सामर्थ्यको प्राप्त होते हैं ।

यहां ब्रह्मचर्य्य कहनेसे भगवानका तात्पर्य्य ब्रह्मचर्य्याश्रमसे नहीं है, क्योंकि यहां तो एकाकी योगीके विषयमें कहरहे हैं, जो बनमें जाकर

⊛ स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥ एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः । (गारुडे अ० ६४)

अर्थ— १. स्मरण, २. कीर्तन, ३. केलि, ४. प्रेक्षण, ५. गुह्यभाषण, ६. संकल्प, ७. अध्यवसाय और ८. क्रियानिवृत्ति । येही आठ प्रकारके मैथुन हैं ।

ध्यानयोगमें तत्पर हुआचाहता है। इसलिये यहां गुरुकुलमें जाकर विद्या उपार्जन करनेसे तात्पर्य्य नहीं है, क्योंकि वनवासी तो बचपनही में यज्ञोपवीत संस्कारके पश्चात् इन कर्मोका सम्पादन करचुका है। इस-लिये भगवानका तात्पर्य्य यहां केवल वीर्य्यनिरोध अर्थात इन्द्रियदम-नसे है। यहां ब्रह्मचर्य्यव्रतके स्मरण दिलानेसे भगवान्का यह भी तात्पर्य्य है, कि प्रायः योगियोंके योगबलको बढतेहुए देख इन्द्रादि देवता जो अपनी पदवीके छिन जानेके भयसे अप्सरा इत्यादिको भेज, उनके योग भ्रष्ट करनेमें तत्पर रहते हैं सो ऐसा न होनेपावे, कि योगी उन अप्सराओंकी अद्भुत छविको देख मोहित हो भ्रष्ट होजावें। इस-लिये भगवान् पुनः पुनः ब्रह्मचर्य्यव्रतकी स्मृति कराते चले जारहे हैं। बहुतेरे साधारण प्राणी यों पूछ बैठते हैं, कि मनुष्य अपने जानते तो अपने वीर्य्यके निरोधका पूर्ण यत्न रखसकता है, पर विधाताने ऐसी सृष्टिकी रचनाकी है, कि स्वप्नमें भी वीर्य्यपात होजायाकरता है तिसके रोकनेका क्या उपाय है ?

उत्तर इसका यह है, कि यदि प्राणी वीर्य्यके उत्तेजित होनेके कारणोंको हटादेवे और इसका पूर्ण विचार रक्खे तो स्वप्नमें भी वीर्य्यपात नहीं होसकता, यह तो एक प्रकारका रोग है। किन-किन पुरुषोंका स्वप्नमें वीर्य्यपात होता है ? सो कहते हैं— प्रथम तो वह जिसे व्यभिचारकी अधिकतासे धातुप्रमेहका रोग है। ऐसा प्राणी व्यभिचार छोडे और रोगकी चिकित्सा करावे। दूसरा वह जो सदा स्त्रियोंकी प्राप्तिके विचारमें रहता है। यद्यपि उसे स्त्रीकी प्राप्ति तो नहीं होती पर उसकी स्मृति रहनेसे स्वप्नमें स्त्रियां दीखपडती हैं, तहां वीर्य्यपात

होनेका भय है। ऐसा प्राणी स्त्रीका ध्यान छोडे। तीसरा वह जो बहुत अधिक सोता है। क्योंकि अधिक सोनेसे श्वासोच्छ्वासकी रगडके द्वारा जो शरीरमें गर्मी उत्पन्न होती है उससे सुषुम्णा नाडी विना स्त्री आदिके स्मरणहुए भी खुलजाती है इस कारण प्राणीको सुखका अनुभव होनेसे वीर्य्यपात होजायाकरता है। दो प्रहरसे अधिक शयन करना धातुकेलिये हानिकारक है।

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम प्रकारके इन्द्रिय-दमनका व्रत पालन करताहुआ दृढ आसनोंमें स्थिर हो [**मन: संयम्य मच्चित्तो युक्तआसीत मत्पर:**] मनको संयम करके मच्चित्त हो, अर्थात् मेरेमें चित्तको लगाताहुआ स्त्री पुत्रादिके स्नेहको तथा सुखको तिलांजलि देकर मेरे साकार वा निराकार-रूपको अपने मनमें बसावे, सदा मेरे ही स्वरूपके आनन्दमें मग्न रहे तथा (मत्पर:) मेरा परायण रहे, अहर्निश मुझहीको अपना श्रेय और प्रेय जानकर मुझहीमें लगारहे और मुझको ही परम पुरुषार्थ समझे। भगवानके कहनेका अभिप्राय यह है, कि प्रह्लाद ऐसे भक्तके समान मच्चित्त और मत्परायण हो।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि जो भगवत्में चित्त लगाकर भगवत्परायण होजाता है, उसे ब्रह्माण्ड मात्रके किसी देवता, देवी, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, सिंह, सर्प, आग और पानी किसीका भी भय नहीं रहता। यह सिद्धान्त है, कि जब भय नहीं रहेगा तो चित्त आनन्द-पूर्वक स्थिर और शान्त रहेगा। भगवान् कहते हैं, कि इसी प्रकार मच्चित्त और मत्परायण होकर विगतभी

अर्थात् निर्भय विहार करे। जब कोई योगी मच्चित्त और मत्पर होगा तब विगतभी अर्थात् निर्भय होगा और जब निर्भय होगा तब प्रशान्तात्माभी अवश्य होगा। यथा श्रु०— "**आनन्दब्रह्मणोविद्वान् न बिभेति कुतश्चन।**

अर्थ— ब्रह्मानन्दमें मग्न प्राणी किसीसे भी डरता नहीं है निर्भय होजाता है। इसी विषयको भगवान् पुनः पुनः कहते हैं, कि मेरेमें चित्त लगायेहुए मनको विषयोंसे सतायेहुए, वृत्तियोंका निरोध कियेहुए, मुझ परमेश्वरके साकार वा निराकार स्वरूपमें समाहित-चित्त हो ध्यानयोगके साधनमें तत्पर रहे॥ १३, १४॥

उक्त प्रकार योगसाधनकरनेवाला योगी किस फलको प्राप्त होता है?

सो भगवान् कहते हैं—

मू०— युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥
॥ १५॥

पदच्छेदः— योगी (ध्यानयोगाभ्यासी) **नियतमानसः** (निगृहीता मनोवृत्तिविकारा येन सः) **एवम्** (अनेन रूपेण) **सदा** (निरन्तम्। दीर्घकालं वा) **आत्मानम्** (अन्तःकरणम्) **युञ्जन्** (समाहितं कुर्वन्) **मत्संस्थाम्** (मय्येव एकीभावेनावस्थानं यस्यांस्ताम्। मदधीनां वा) **निर्वाणपरमाम्** (मोक्षस्यानन्यसाधन-भूताम्) **शान्तिम्** (संसारोपरतिम्) **अधिगच्छति** (प्राप्नोति) ॥१५॥

पदार्थः— (योगी) ध्यानयोगका अभ्यास करनेवाला योगी (नियतमानसः) जिसने मनोवृत्तिके विकारोंको निरोध करलिया है वह (एवम्) इसप्रकारसे (सदा) निरन्तर (आत्मानम्) अपने अन्तःकरणको (युंजन्) समाधान करताहुआ (मत्संस्थाम्) मेरे अधीन रहनेवाली तथा (निर्वाणपरमाम्) मोक्ष निष्ठावाली (शान्तिम्) शान्तिको (अधिगच्छति) प्राप्त होता है अर्थात् मुझमें स्थिर होकर संसारसे उपरामको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

भावार्थः— श्रीगोलोकविहारी जगतहितकारी योगका फल वर्णन करतेहुए अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः] जो योगी नियतमानस है वह सदा अपनेको योगमें युक्त करताहुआ क्या करता है? सो सुनो! पूर्व श्लोकमें बतायीहुई रीतिसे आसनको पूर्णप्रकार लगाकर, तिस आसनपर दृढ-स्थित, ब्रह्मचर्य्यव्रतपर ध्यान रखताहुआ सदा मेरेमें परायण हो, जिस ध्यानयोग साधनकरनेवाले योगीने अपनी मनोवृत्तिके विकारोंको नाश

Thus for wholeness ever striving.
    The will poised Sage of mind restriained
Enters peace in all restending
    That where but in me abides 15

नियत चित्त जो योगी ऐसे
सन्तत रहता योगासक्त।
मुझमें स्थित निर्वाण-रूपिणी।
शान्ति वही पाता है भक्त ॥ १५ ॥

करदिया है अर्थात् जिसकी वृत्ति विषयोंकी ओर न जाकर मेरी ओर लग गई है, जो सहस्रों आपत्तियोंके प्राप्त होनेपर भी अपनी निष्ठासे चंचल न हो और अपने नियत कियेहुए ध्यानसे नहीं डिगे उसीको नियतमानस कहते हैं। मुख्य तात्पर्य यह है, कि जब योगी ध्यानावस्थित होकर श्री हरिके स्वरूपमें मन लगाता है तो नाना प्रकारकी सिद्धियां चारों ओरसे आकर उसे घेरलेती हैं। अष्ट सिद्धियां हाथ बांधे खडीहोजाती हैं और बहुतेरी रानी रौतानियां अपने स्वार्थकी सिद्धि निमित्त उस योगीके चारों ओर हाथबांधे आ खडीहोती हैं। यहांतक, कि देवांगनायें हाथोंमें पानदान, गुलाबदान, इतरदान, पुष्पमाला इत्यादि लेकर सम्मुख पहुंचती हैं। तहां श्रुतिका प्रमाण है—

श्रु०— " ॐ तं पंचशतान्यपसरसां प्रतिधावन्ति शतं मालाहस्ताः शतमांजनहस्ताः शतं चूर्णहस्ताः शतं वासोहस्ताः " (कौषीतकी उ० अ० १ श्रु० ४ में देखो)

अर्थ— जब योगी अपने योगबलसे ब्रह्मानन्दप्राप्तिके योग्य होजाता है, तो प्रथम उसके सम्मुख पांचसौ सुन्दर-सुन्दर रूप यौवनसे सम्पन्न अप्सरायें (परियां) आकर खडीहोती हैं। सौ तौ हरिद्रा, केशर और कुमकुम-चूर्ण, सौ नाना प्रकारके वस्त्र, सौ नन्दनबनके मधुर-मधुर फल, आभरण और सौ विविध प्रकारके पुष्पोंकी मालाएँ लियेहुए योगीके सम्मुख आ प्राप्त होती हैं और उसे अपने संग लेजानेकी चेष्टा करती हैं।

भगवान्के कहनेका यह अभिप्राय है, कि इस प्रकार घेरे जानेपर जो अपने योगसे और सिद्धियोंके प्राप्तहोनेसे भी जो घृणा करता है उसीको नियतमानस कहते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि इस प्रकार नियतमानसयोगी सदा अपने अन्तःकरणको योगक्रियामें तथा मेरे स्वरूपमें समाधान कियेहुए [शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति] संसारसे उपरामको प्राप्त होकर शान्तिको प्राप्त होता है। सो शान्ति कैसी है? सो कहते हैं, कि निर्वाणपरमा है और मत्संस्था है। अर्थात् जिस अवस्थामेंपहुंचकर कुछ करने वा जाननेको शेष नहीं रेहजाता। योगी आत्मामें लय होजाता है। जैसे बत्ती जलते-जलते समाप्त होजाती है, उसकी ज्योति महदाकाशमें लय होजाती है। उसी अवस्थाको निर्वाणपरमा कहते हैं। प्रमाण श्रुतिः—"ॐ यथा निर्वाणकाले तु दीपो दग्ध्वा लयं व्रजेत्। तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत्॥" (क्षुरिकोप० मं० २१)

अर्थ— जैसे दीपक बुतनेके समय जलकर लय होजाता है तैसे ही सब कर्मोंको दग्ध करके योगी लय होजाता है। सो भगवान् आगे कहेंगे। फिर श्रीमद्भागवतका वचन है—

मुक्ताशयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः। आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेकमन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः। देहे च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा सिद्धो विपश्यत्यऽव्यगमत्स्वरूपम्। दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं वासो यदा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ (श्रीमद्भा० स्कं० ३ श्लो० ३५, ३७)

अर्थ— पूर्वोक्त नियतमानस पुरुष जब सर्व प्रकारके आशयोंसे रहित, सबसे बिरक्त और निर्विषय हो इस प्रकार निर्वाण होजाता

है जैसे " अर्चिः " (दीपककी ज्वाला) तेल वत्तीके नाश होनेसे अपने महाकारण महाभूताकाशमें लय होजाती है, इसी प्रकार वह पुरुष विना किसी व्यवधान (रुकावट) के सर्व प्रकारके गुणप्रवाह (देहेन्द्रियोंके व्यवहारे) से रहित हो केवल एक आत्मानन्दके साक्षात्कारका अनुभव करलेता है ।

फिर कपिलदेवजी अपनी माता देवहुतीको उपदेश करते-करते एवम्प्रकार कहते हैं, कि हे मातः ! जो योगाभ्यासमें पूर्ण इस अन्नके शरीरमें विद्यमान जिस शरीरसे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करता है वह शरीर दैवाधीन आसनपरसे उठबैठा वा उठखडा रेहा वा तहांसे किसी दूसरे स्थानको चलागया अथवा फिर आसनपर आबैठा इन बातोंका भी अनुसन्धान नहीं रखता है। जैसे मद्यपी मद्यपान करनेके पश्चात् उस मदसे उन्मत्त हो यह नहीं अनुभव करता, कि उसकी कटिमें जो वस्त्र लिपटाहुआ था वह है वा गिरगया। ऐसी अवस्था जब योगीकी होजाती है तभी उसे निर्वाणपरमा कहते हैं । इसीका नाम जीवन्मुक्ति है ॥

यदि पूछो, कि वह निर्वाणपरमा कैसी है ? जिसे योगी प्राप्त करता है । तो भगवान कहते हैं, कि " मत्संस्थाम् " मुझ ही में जिसका अवस्थान है । इसलिये जो मेरे ही अधीन है ।

श्री आनन्दकन्दके कहनेका तात्पर्य यह है, कि जो निर्वाणपरमाशान्ति भगवतके आश्रय है वही सर्वोत्तम और श्रेष्ठ है । क्योंकि अन्य देव देवी सब उसीके अधीन हैं । यथा श्रुतिः— " तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवानां परमं च दैवतम् । पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ " (श्वेता० अ० ६ श्रुति ७)

अब भगवान् कहते हैं, कि इस प्रकार नियतमानसयोगी सदा अपने अन्तःकरणको योगक्रियामें तथा मेरे स्वरूपमें समाधान कियेहुए [शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति] संसारसे उपरामको प्राप्त होकर शान्तिको प्राप्त होता है। सो शान्ति कैसी है? सो कहते हैं, कि निर्वाणपरमा है और मत्संस्था है। अर्थात् जिस अवस्थामेंपहुँचकर कुछ करने वा जाननेको शेष नहीं रहजाता। योगी आत्मामें लय होजाता है। जैसे बत्ती जलते-जलते समाप्त होजाती है, उसकी ज्योति महदाकाशमें लय होजाती है। उसी अवस्थाको निर्वाणपरमा कहते हैं। प्रमाण श्रुतिः—"ॐ यथा निर्वाण काले तु दीपो दग्ध्वा लयं व्रजेत्। तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत्॥" (क्षुरिकोप० मं० २१)

अर्थ— जैसे दीपक बुतनेके समय जलकर लय होजाता है तैसे ही सब कर्मोंको दग्ध करके योगी लय होजाता है। सो भगवान् आगे कहेंगे। फिर श्रीमद्भागवतका वचन है—

मुक्ताशयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः। आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेकमन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः। देहे च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा सिद्धो विपश्यत्यध्यगमत्स्वरूपम्। दैवादुपेतमथदैववशादपेतं वासो यदा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ (श्रीमद्भा० स्कं० ३ श्लो० ३५, ३७)

अर्थ— पूर्वोक्त नियतमानस पुरुष जब सर्व प्रकारके आशयोंसे रहित, सबसे बिरक्त और निर्विषय हो इस प्रकार निर्वाण होजाता

है जैसे " अर्चिः " (दीपककी ज्वाला) तेल वत्तीके नाश होनेसे अपने महाकारण महाभूताकाशमें लय होजाती है, इसी प्रकार वह पुरुष बिना किसी व्यवधान (रुकावट) के सर्व प्रकारके गुणप्रवाह (देहेन्द्रियोंके व्यवहारे) से रहित हो केवल एक आत्मानन्दके साक्षात्कारका अनुभव करलेता है ।

फिर कपिलदेवजी अपनी माता देवहुतीको उपदेश करते-करते एवम्प्रकार कहते हैं, कि हे मातः! जो योगाभ्यासमें पूर्ण इस अन्नके शरीरमें विद्यमान जिस शरीरसे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करता है वह शरीर दैवाधीन आसनपरसे उठबैठा वा उठखडा रेहा वा तहांसे किसी दूसरे स्थानको चलागया अथवा फिर आसनपर आबैठा इन बातोंका भी अनुसन्धान नहीं रखता है। जैसे मद्यपी मद्यपान करनेके पश्चात् उस मदसे उन्मत्त हो यह नहीं अनुभव करता, कि उसकी कटिमें जो वस्त्र लिपटाहुआ था वह है वा गिरगया। ऐसी अवस्था जब योगीकी होजाती है तभी उसे निर्वाणपरमा कहते हैं । इसीका नाम जीवन्मुक्ति है ॥

यदि पूछो, कि वह निर्वाणपरमा कैसी है ? जिसे योगी प्राप्त करता है । तो भगवान् कहते हैं, कि " मत्संस्थाम् " मुझ ही में जिसका अवस्थान है । इसलिये जो मेरे ही अधीन है ।

श्री आनन्दकन्दके कहनेका तात्पर्य यह है, कि जो निर्वाणपरमाशान्ति भगवतके आश्रय है वही सर्वोत्तम और श्रेष्ठ है । क्योंकि अन्य देव देवी सब उसीके अधीन हैं । यथा श्रुतिः— " तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवानां परमं च दैवतम् । पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ " (श्वेता० अ० ६ श्रुति ७)

अर्थ– वह परब्रह्म जगदीश्वर यम, वरुण, कुवेरादि ईश्वरोंका भी परम महेश्वर है, इन्द्रादि देवताओंका भी परम देव है, प्रजापति, बृहस्पति इत्यादि पतियोंका भी पति है और अक्षर ब्रह्म होनेके कारण परम अविनाशी स्वरूप सबोंसे परे है । अर्थात् अन्य सबोंका नाश होजाता है पर उस भगवत्स्वरूपका कभी भी नाश नहीं होता । तिस ऐसे भगवत्को हम चौदहों भुवनका ईश सबोंसे स्तुति कियेजाने योग्य जानते हैं ।

इसी कारण भगवानने इस निर्वाणपरमाशान्तिको अपने अधीन अर्थात् "मत्संस्था" कहा और यह कहा, कि जो इसे प्राप्त करता है वह मेरे स्वरूपमें लय होजाता है । इस योगका मुख्यफल यही है ॥ १५

अब जगत-हितकारी श्री गोलोकविहारी अगले श्लोकमें योगियोंको उनके आहार-विहारकी शिक्षा देते हैं—

मु०– नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
नचातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्ज्जुन ! ॥ १६

पदच्छेदः— [हे] अर्जुन ! अत्यश्नतः (अत्यन्तमधिकम भुञ्जानस्य) तु (निश्चयेन) योगः (योगसिद्धिः) न (नैव) अस्ति (भवति) च (तथा) एकान्तम् (नितान्तम्) अनश्नतः (अनाहारस्य) न, च (तथा) अतिस्वप्नशीलस्य (निद्रालोः । शयालोः) न, च (तथा) जाग्रतः (जागरणविशिष्टस्य) नैव [योगोऽस्ति] ॥ १६ ॥

पदार्थः— (अर्जुन!) हे अर्जुन! (अत्यश्नतः) अत्यन्त अधिक भोजन करनेवालेके लिये भी (तु) निश्चय करके (योगः) योग (न, अस्ति) नहीं है (च) तथा (एकान्तम्) एकबारगी (अनश्नतः) निराहार रहनेवालेके लिये भी (न) योग नहींहै ! इसी प्रकार (अतिस्वप्नशीलस्य) अत्यन्त अधिक सोनेवालेके लिये (च) भी (न) योग नहीं है तथा (जाग्रतः) बहुत जागनेवालेके लिये (च) भी (न) योग नहीं है । तात्पर्य यह है, कि ऐसे लोगोंका योग सिद्ध नहीं होता जो बहुत भोजन करते हैं वा एकबारगी भूखे रहजाते हैं तथा जो बहुत सोते हैं वा बहुत जागते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थः— अब श्री योगेश्वर भगवान् योगियोंको उनके आहार विहारकी शिक्षा देतेहुए कहते हैं, कि [**नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति नचैकान्तमनश्नतः**] जो प्राणी बहुत खाता है उसकेलिये योग नहीं है । क्योंकि अत्यन्त भोजन करनेवालेके शरीरमें तो कफ, मेद और वायुकी अधिकता होजाती है जिससे रसवहा नाडियोंके मार्ग रुकजाते हैं, इसलिये अन्नोंके रसोंके ठीक-ठीक अपने स्थानपर नहीं पहुंचनेसे नाना प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति होती है। जिस कारण योगक्रियाका सम्पादन होही नहीं सकता । यथा—

" अनात्मवन्तः पशुवद्भुंजते येऽप्रमाणतः । रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥ "

अर्थ— जो लोग मूढतावश पशुके समान अप्रमाण भोजन करते हैं वे अपने शरीरमें आप रोगोंके मूल बनजाते हैं और अजीर्ण-रोगको

जाता है वह भी नाशका कारण होता है उससे भी रक्षा नहीं होसकती।

इसी कारण योगशास्त्रमें मिताहारी रहनेकी आज्ञा है। अर्थात् योगी न अधिक भोजन करे, न कम भोजन करे, तहां चरकमें भगवान् अत्रि कहते हैं, कि " हिताहारोपयोग एक एव पुरुषस्याभिवृद्धिकरो भवति। अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्तमिति ॥ " (चरकः) अग्निवेशसे भगवान् अत्रि कहते हैं, कि जो आहार हित है अर्थात् मिताहार है और पथ्य वस्तुओंसे युक्त है उसका उपयोग अर्थात् सेवन करनेसे पुरुषोंके बल बुद्धिकी वृद्धि होती है। और इसके प्रतिकूल जो आहार अहित है अर्थात् अधिक वा न्यून है तथा अपथ्य वस्तुओंसे युक्त है वह नाना प्रकारकी व्याधियोंका कारण है।

इस वचनसे भी सिद्धान्त होता है, कि योगियोंको मिताहारी होनाचाहिये तथा पथ्य वस्तुओंका भोजन करनाचाहिये। सात्विक-भोजन पथ्य होता है राजसी और तामसी भोजन अपथ्य हैं। सात्विकादि तीनों प्रकारके आहारोंका वर्णन भगवान् अर्जुनके प्रति आगे सतरहवें अध्यायमें करेंगे।

योगियोंकेलिये कौनसी वस्तु पथ्य हैं और कौन-कौनसी अपथ्य हैं ? सो कहते हैं– " कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकसौवीर-तैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान्। आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोल-पिण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥ भोजनमहितं विद्यात्पुनर-स्योष्णीकृतमरूक्षम्। अति लवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् " (हठयोगप्रदीपिका उपदेश १ श्लो० ५९, ६०)

अर्थ— कडुई जैसे निम्बादि, + खट्टी जैसे आमकी खटाई इत्यादि, × तीक्ष्ण (लाल मिरच इत्यादि) लवण (बहुत नमक) उष्ण (बहुतगरम) अथवा वे वस्तु जिनका गुण बहुत गरम है जैसे गुड इत्यादि, ⊛ हरितशाक (कच्चा शाक) कांजी, तेल, तिल, सरसों, मद्य, मछली, बकरे इत्यादिका मांस, दधि, तक्र, कुलथी, बेरका फल, तिलपिराडी और हींग इतनी वस्तु योगियोंकेलिये अपथ्य हैं और हानिकारक हैं। एवम्प्रकार योगी आहारका विचार करता-हुआ नीचे लिखे व्यवहारोंको भी अपथ्य ही जानकर वरज देवे।

"वर्जयेद्दुर्जनप्रान्तं वह्निस्त्रीपथिसेवनम्।
प्रातः स्नानोपवासादि कायाक्लेशविधिं तथा॥"
(गोरक्षवचनम्)

+ नीबू— ग्रहण करने योग्य पथ्य है।

× कालीमिरची— पथ्य है।

⊛ शाकं भिनत्ति वपुरस्थिनि हन्ति नेत्रम्,
वर्णं विनाशयति रक्तमथापि शुक्रम्।
प्रज्ञाक्षयं प्रकुरुते पलितं च नूनम्,
हन्ति स्मृतिं गतिमिति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥
शाकेषु सर्वे निवसन्ति रोगाः, सहेतवो देहविनाशनाय।
तस्माद्बुधः शाकविवर्जनं च, कुर्य्यात् तथाम्लेषु स एव दोषः॥
(भावप्रकाशः)

अर्थ— दुर्जनलोगोंके संगको त्यागे, दुर्जनोंके निवासस्थानके समीप अपना स्थान न बनावे, अग्नि न तापे, स्त्रीका संग न करे, मार्ग न चले, प्रातःकाल ठण्डेपानीसे स्नान न करे, किसी प्रकार भी उपवास न करे। अथवा अपनी कायाको अन्य किसी प्रकारका क्लेश न देवे। इतनी बातें योगियोंकेलिये हानिकारक हैं। अब योगियोंकेलिये जो वस्तु पथ्य हैं वे लिखीजाती हैं—

" गोधूमशालियवषष्टिकशोभनान्नम्, क्षीराज्यखण्डनवनीतसिता मधूनि। शुंठीपटोलकफलादिकपंचशाकम्, मुद्गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम् ॥ पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम्, मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥ " (हठ० प्रथ० उ० श्लो० ६२, ६३)

अर्थ— गेहूँ, चावल, जौ, साठी, शमा, कंगनी, दूध, घृत, खांड, माखन, मिश्री, मधु, सोंठ, पलवल, फलादि, (आम, अमरूद, सेव, अंगूर, नासपाती इत्यादि) पंचशाक जीवन्ती, वास्तूक (बथुआ) काकमाची (गुडकामाई) पुनर्नवा और चौलाई ये पांच शाक " पञ्च-शाक " कहे जाते हैं। इनको छोड और सर्वप्रकारके शाक रोगके कारण हैं, सो अपथ्यमें दिखाआये हैं। मुद्ग (मूंग) कूपका दिव्यजल श्रेष्ठ साधकोंकेलिये पथ्य है। शरीरको पुष्टकरे ऐसा मधुर, दूध घृतादियुक्त ओदन (भात) तथा धातुको पोषण करनेवाले एवं मनको रुचिकारक पदार्थोंको योगी भोजन करे।

शंका— पहले तो कह आये हैं, कि योगी एकाकी होकर एकान्तस्थानमें निवास करे, अपरिग्रह हो अर्थात् कुछ भी अपने

साथ न रक्खे । अब कहते हैं, कि ऐसे—ऐसे पौष्टिक पदार्थोंका भोजन करे । जब एकाकी और अपरिग्रह होगा तो ये पौष्टिक-पदार्थ उसे कहांसे मिलेंगे ?

समाधान— योगियोंकी दो अवस्थायें होती हैं आरम्भावस्था और निष्पत्त्यवस्था । आरम्भावस्था अर्थात् योगक्रियाके साधन-कालमें इन पथ्य और अपथ्य वस्तुओंका विचार है । पर निष्पत्त्यवस्था अर्थात् क्रिया सिद्ध होजानेके पश्चात् केवल कन्द मूल ही गुणकारक हैं और पौष्टिक हैं । इसलिये निष्पत्त्यवस्थावाले सिद्धपुरुषोंके लिये भगवानने एकाकी और अपरिग्रह होना कहा है । साधक जो आरम्भावस्थामें है, ग्रामोंके समीप निवासकर सायंकाल ग्राममें जाकर भिक्षा द्वारा पथ्यका सेवन करसकता है । क्योंकि जो गृहस्थ हरिभक्त होते हैं, वे योगियोंकेलिये अपने घरके बनेहुए सब उत्तम और पौष्टिक-पदर्थोंमेंसे योगीका भाग निकाल, अपने घरमें एक ओर रख, भोजन करते हैं। बहुतेरे गृहस्थ भक्तजन शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार बडे प्रेमसे नाना प्रकारके पक्वान्न योजन पर्य्यन्त दूर रहनेवाले योगियोंके समीप लेजा, भोजन कराते हैं। पश्चात् लौटकर अपने घरमें भोजन करते हैं अथवा वहां ही योगीका बचाहुआ जूठन लेकर तृप्त होजाते हैं। अब रहे वे जो दूर-दूरके वनमें निवास करते हैं । उनकेलिये परमात्माने वनमें नाना प्रकारकी मेवा तथा कन्द मूल बडे-बडे स्वादिष्ट और पुष्टिकारक बना रक्खे हैं, जो समय-समयपर फलते हैं। कोई ऋतु ऐसी नहीं जिसमें नाना प्रकारके फल और कन्दमूल वनमें न मिलते हों। इसलिये योगियोंको भोजनकी तो तनक भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

दूसरी बात यह है, कि यह योग-क्रिया भाग्यवानहीको लाभ होती है, फिर जो भाग्यवान् है, उसे पौष्टिक और पथ्य भोजन मिलनेमें शंकाही क्या है इसलिये यहां तनकभी शंका मत करो !

अब भगवान् कहते हैं, कि [**न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्ज्जुन!**] हे अर्जुन ! अत्यन्त सोनेवालेकेलिये भी योग नहीं है और अत्यन्त जागनेवालेकेलिये भी नहीं है । क्योंकि साधककेलिये योग साधनकरनेका उत्तम समय प्रातःकाल ही है । अर्थात् सूर्य्योदयसे पीछे प्रहर दिन चढेतक योगारम्भका उत्तम समय है । इसलिये जो प्राणी शयनमें ही रहेगा उसे योगसाधनका समय ही नहीं मिलेगा । बहिर्भूमि, दन्तधावन तथा षट्कर्मोंके करते-करते दो प्रहर दिनसे अधिक बीत जावेगा। फिरतो अपहरणमें अर्थात् सूर्य्यके ढलनेके पश्चात् साधकोंको क्रियाका आरम्भ करना हानिकारक है । ऐसा करनेसे रोगोंकी उत्पत्ति होती है, नाडियां शुष्क होजाती हैं, परस्पर एक दूसरेसे चिपटजाती हैं और पित्तसे तपीहुई नाडियोंमें एक प्रकारकी ऊष्णता उत्पन्न होजाती है । प्राणको पूरक द्वारा ब्रह्मरन्ध्र-तक खैंच लेजानेसे मस्तिष्कमें उष्णता बढजाती है, मस्तकके अधिक गरम होनेसे अन्तःकरणमें चंचलता उत्पन्न होती है। इसलिये एकठौरमें ध्यान नहीं जमसकता । जब ध्यान न जमा तो ध्यानयोगकी सिद्धि नहीं हुई । वरु इसके प्रतिकूल उन्मादादि रोगोंके उत्पन्न होनेका भय है । इसलिये योगीको अधिक सोना हितकारक नहीं ।

इस ध्यानयोगका मुख्य तात्पर्य यही है, कि भगवत्स्वरूपमें ध्यान जमे ।क्योंकि "ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः" (पतंजलि अ० २ सू० ११)

अर्थ—मोहादि विकारोंसे मिलीहुई जो चित्तकी वृत्तियां हैं, वे ध्यानसे ही छूटने योग्य हैं। इसलिये वह योगी जो भगवत्स्वरूपको प्राप्त कर संसृत-क्लेशोंसे छूटना चाहता है अधिक निद्रा लेनी वरजदेवे।

अब भगवान् कहते हैं, कि "जाग्रतो नैव चार्ज्जुन!" हे अर्जुन! जो प्राणी अधिक जागता है वह भी योगका अधिकारी नहीं है। क्योंकि अधिक जागनेसे भी अन्न परिपक्व नहीं होता जिससे रोग उत्पन्न होते हैं। दूसरी बात यह है, कि जो योगी अधिक जागरण करेगा, वह जब प्राणायामादि क्रियाओंमें प्रवेश करेगा तब उसे निद्रा सतावेगी, तो उसे यह स्मरण नहीं रहेगा, कि किस नाडीसे वह चढा है और अब किस नाडीसे उसे उतरना चाहिये। यदि ऐसा हुआ, कि जिधरसे चढा है उसी नाडीसे उतरेगा तो कलेजा टुकडा-टुकडा होजावेगा, वायु कोप करके नसोंको विदीर्ण करदेगी। इस-लिये योगीको अधिक जागना मानो मृत्युको बुलाना है। अतएव अधिकसे अधिक छै घण्टे और कमसे-कम तीन घण्टे तक अर्थात् एक पहरसे कम कदापि नहीं सोना चाहिये।

मुख्य तात्पर्य भगवानका यह है, कि योगी न अधिक भोजन करे तथा न कम भोजन करे। **आत्म-सम्मित** भोजन करे तथा न अधिक सोवे न कम सोवे। मूल आशय इस श्लोकका यह है, कि केवल भोजन शयन ही नहीं, वरु अन्य प्रकारके जो व्यवहार हैं उनमें समता रखे, अर्थात् चलना, फिरना, उठना बैठना बोलना, चालना इत्यादि सब प्रकारके कायिक और वाचिक व्यवहारोंको सम रेखे और अधिक ग्रन्थों का भी अवलोकन न करे॥ १६ ॥

अब भगवान् योगियोंके अहार-विहारकी समताका
फल कहते हैं—

मू०— युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

पदच्छेदः— युक्ताहारविहारस्य (नियतपरिमाणः भोजनगमनादिर्यस्य तस्य) कर्म्मसु (शारीरिकादि व्यापारेषु शौचस्नानादिषु प्रणवादि जपादिषु वा) युक्तचेष्टस्य (नियतैव चेष्टा यस्य-तस्य) युक्तस्वप्नावबोधस्य (परिमितौ निद्राजागरौ यस्य तस्य) योगः दुःखहा (सर्वसंसारदुःखक्षयकृत) भवति ॥ १७ ॥

पदार्थः— (युक्ताहारविहारस्य) नियत परिमाणसे भोजन करने और मार्ग चलनेवाले तथा (कर्म्मसु युक्तचेष्टस्य) शारीरिक-क्रिया भाषणादि तथा प्रणवादि मंत्रोंके जपमें नियतकाल पर्यन्त परिश्रम करनेवाले तथा (युक्तस्वप्नाववोधस्य) सोने और जागनेकी समताके नियम रखनेवाले योगीका (योगः) ध्यान-योग (दुःखहा) संसार-दुःखका नाश करनेवाला (भवति) होता है ॥ १७ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें जो भगवान् भोजन, शयनादिकी शिक्षा देआये हैं तिसके अनुसार चलनेवाले योगियोंका फल कहते हैं, कि [युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु] जो साधक अपने आहार विहारका परिमाण ठीक-ठीक नियमित रखता है अर्थात् प्रतिदिन एक परिमाणसे भोजन करता है, न्यूनाधिक नहीं

करता तथा अपथ्य वस्तुओंकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखता, वरु एकाहारी होकर रहता है अर्थात् एक ही प्रकारकी वस्तु प्रतिदिन भोजन करता है, उसीका योग दुःख हरनेवाला होता है। क्योंकि जिस प्रकारके आहारका अभ्यास होजाता है, वह वस्तु अभ्यस्तसात्म्य होजाती है। इसलिये यदि उसमें कुछ अवगुण भी हो तो अभ्यास करने वालेकी हानि नहीं होती। इस आहारके विषय पूर्व श्लोकमें विस्तारपूर्वक कहाजाचुका है।

अब भगवान् कहते हैं, कि साधकका विहारभी नियमित होना चाहिये अर्थात् चलने फिरनेमें भी विचार रखना चाहिये। यदि योगी को संयोग वशात् कभी पन्थ चलनेकी आवश्यकता हो तो अधिक न चले "योजनान्नापरं गच्छेत्" इस वचनके अनुसार एक योजनसे अधिक एक दिनमें नहीं चलना चाहिये। उसका भी दो भाग कर-देवे, अर्द्ध योजन प्रातःकाल और अर्द्ध योजन भोजनोत्तर। सायं काल पहले चलकर उत्तरणस्थान इत्यादिमें विश्राम करजावे। यह चलना भी तब हीं चाहिये जब किसी विशेष कारणसे कहीं चलनेका संयोग आनपडे, नहीं तो योगीके लिये पांव-पांवचलना हानि कारक है। 'विहार' शब्दका अर्थ स्त्रीसंगादि क्रीडा भी है। सो एकाकी योगीको तो किसी प्रकारकी क्रीडा करनेका संयोग ही न पडेगा। पर जो कोई गृहस्थाश्रममें योग क्रिया प्राणायामादिकी उन्नति किया चाहे तो उसे केवल ऋतुमती भार्य्यासे क्रीडा करनेकी आज्ञा है। अर्थात् मासमें एकवार क्रीडा कर सकता है। स्त्री गर्भवती होजानेके पश्चात् तो उसे क्रीडासे बचजानेका पूर्ण अवकाश मिलजाता है। फिर भगवान्

कहते हैं, कि " युक्तचेष्टस्य कर्मसु " आहार-विहारसे अतिरिक्त अन्य जो भाषण, शौच, स्नान, मंत्र जपादि तथा स्तुति, पाठादि कर्म हैं उनको भी युक्तचेष्टासे अर्थात् नियमसे करना चाहिये । ऐसा न होना चाहिये, कि एक ही कर्ममें सारा दिन बीतजावे । बहुतेरे प्राणियोंका स्वभाव है, कि बोलने लगगये तो बोलतेही चलेजाते हैं और ऐसा बकने लगते हैं, कि उनकी बातोंको फिर कोई सुनने नहीं चाहता । इस प्रकार योगीको अधिक बोलनाभी नहीं चाहिये । और किसी विषयमें किसीके साथ शास्त्रार्थ नहीं करना चाहिये, हां ! कोई जिज्ञासु किसी स्थानसे कुछ पूछने आजावे तो योग्य उत्तर देकर उसे सन्तोष कर-देना चाहिये, पर किसी बकवादीके साथ × वितण्डावाद वा जल्पादि नहीं करना चाहिये ।

इसी प्रकार शौचको इतना न बढावे, कि दिनभर उसीमें लगारहे और इतना कमभी न करे, कि शरीरसे दुर्गन्ध निकला करे "यावता-शुद्धिं मन्येत तावच्छौचं समाचरेत् " इस वचनके अनुसार जबतक अशुद्धिकी शंकारहे तबहीतक शौच करना चाहिये ।

इसी प्रकार स्नानादिका भी नियम रखना चाहिये और जपादि

× एवमेतन्नचाप्येवमेवञ्चैतन्न चान्यथा ।
प्रत्यूचुर्बहुशस्तत्र वितण्डा वै परस्परम् ॥ (महाभा० ५-३६-३)

जल्पः— परमतखंडनपूर्वकं स्वमतस्यत्रस्थापनम (जटाधरः)

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः । (गौतमन्यायसू० १-४२)

भी तबही तक करना चाहिये जबतक मन एकाग्र रहे। भगवान्‌के कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जितने कर्म, योगीके करनेयोग्य हों उनको योगी युक्तचेष्ट होकर करे, व्यर्थ इनके करनेमें समय न वितावे। इसी प्रकार करनेवालेका योग सिद्ध होता है।

अब श्री योगेश्वर भगवान् कहते हैं, कि [युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा] जो साधक उक्त गुणोंसे सम्पन्न निद्रा और जागरणको नियमपूर्वक पालनकरता है तिसका योग,दुःखका नाश करनेवाला होता है। अर्थात् जिस बुद्धिमान योगीने सर्वप्रकारके कर्मोंमें समता प्राप्तकी है और पूर्वश्लोकोंमें भगवत्‌की दीहुई शिक्षाके अनुसार जितात्मा, प्रशान्त, कूटस्थ, समबुद्धि, एकाकी, निराशी, अपरिग्रह, विगतभीः, स्थिरासनस्थित, भगवत्परायण, नियत-मानस, युक्ताहार-विहार, युक्तचेष्ट और युक्तस्वप्नावबोध है उसी योगीका योग "दुःखहा" दुःखोंका नाश करनेवाला होजाता है। क्योंकि वही सर्वप्रकारकी उपाधियोंसे रहित-स्थानको प्राप्त होजाता है। ऐसे योगीको निर्म्मल आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति होती है। आत्मज्ञानसे करोडों जन्मोंके शुभाशुभको नाशकर भगवत्स्वरूपमें जामिलता है। इसी कारण भगवान्‌ने ऐसे योगको दुःखहा कहा है।

तहां उपनिषद्‌का भी प्रमाण है श्रु०— "ॐ यताहारो जितक्रोधो जितसंगो जितेन्द्रियः। निर्द्वन्द्वो निरहंकारो निराशीरपरिग्रहः"। (तेजोबिन्दूप० मं० ३) अर्थात् जो योगी यताहार अर्थात् युक्ताहार है, क्रोधरहित है, सर्वसंगवर्जित है, जितेन्द्रिय है, निर्द्वन्द्व है,

अहंकार रहित है, कामनाओंसे शून्य है तथा किसी प्रकारका परिग्रह अर्थात् वस्तु-तस्तु अपने साथ नहीं रखता है सो योगी संसार-दुःखको नाश करके किस अवस्थाको प्राप्त होता है ? सो कहते हैं । श्रु०—

" ॐ परं गुह्यतमं विद्धि ह्यस्ततन्द्रो निराश्रयः । सोमरूपकलासूक्ष्मा विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥ उपाधि रहितं स्थानं वाङ्मनोतीतगोचरम् । स्वभावं भावसंग्राह्यमसंघातंपदाच्युतम् ॥ आनन्दं नन्दनातीतं दुष्प्रेक्ष्यं मुक्तमव्ययम । चिन्त्यमेवं विनिर्मुक्तं शाश्वतं ध्रुवमच्युतम् ॥ (तेजविन्दूप० अ० १ मं० ५, ७, ८)

अर्थ— जिस स्थानको ध्यानयोगवाला योगी प्राप्त होता है सो कैसा है ? " परमं गुह्यम् " अत्यन्त गोपनीय है, जिसका भेद अर्थात् गुप्तरेहस्य योगियोंको छोड अन्य किसीको ज्ञात नहीं है । फिर वह कैसा है, कि ह्यस्ततन्द्र है, जो आजतक विदित नहीं हुआ, जिसे आधार नहीं है निराधार है, सोमरूप है । जैसे ऊपर नीचे दायें बायें किसी ओर आकाशका पता नहीं है, कि कहांतक है इसीप्रकार वह भी अप्रमेय है तथा अत्यन्त सूक्ष्म कलावाला है । क्योंकि उसे " अणोरणीयांसम् " अत्यन्त सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म कहा है । सो ही विष्णुपरमपद अर्थात् योगियों और भक्तोंकी विश्राम भूमि है। अर्थात् जहां आकर योगीजन विश्राम करजाते हैं। फिर वह स्थान कैसा है ? कि उपाधि रहित है । जहां जाकर शुभाशुभकर्म नाश होजाते हैं। बचनसे जो नहीं कहाजासकता और न मनसे अनुमान किया जासकता है। फिर कैसा है, कि " **स्वभावं भावसंग्राह्यम्** " स्वाभाविक भावसे जो ग्रहण करने योग्य है अर्थात् बनावटी ध्यान करनेसे जो

नहीं ग्रहणमें आता वरु सच्चे हृदयकी भावना करनेसे जो ग्रहण करने योग्य है तथा " संघातैकपदाच्च्युतम् " वाणीसे अतीत होनेके कारण जो वचनसमूहके भीतर नहीं आसकता अथवा यों अर्थ करलो, कि + संघातैकपद जो स्त्री पुत्र कलत्रादिके समूहमें रहनेवाला संसारी मनुष्य, तिससे " च्युतम " त्यागाहुआ जो स्थान है अर्थात् संसारी मनुष्य जहां नहीं पहुंच सकते। क्योंकि वह स्थान संसारियोंकेलिये अगम है। फिर वह कैसा है? कि " **आनन्दम** " आनन्दस्वरूप है फिर " **नन्दनातीत** " है अर्थात् दूसरा कोई जिसे आनन्द नहीं करसकता क्योंकि वही एक सबको आनन्द करनेवाला स्वयं आनन्द-स्वरूप है। फिर वह कैसा है ? कि संसारियोंसे " **दुष्प्रेक्ष्य** " है देखा नहींजाता " **अज** " है और " **अव्यय** " है तथा " **चित्तवृत्तिविनिर्मुक्तम्** " चित्तवृत्तियोंसे विलग है क्योंकि अन्तःकरण इत्यादि उपाधि उसमें नहीं हैं। फिर वह " **शाश्वतम्** " सदाकेलिये है, " **ध्रुवम्** " स्थिर है और " **अच्युतम्** " नाशरहित है।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि युक्ताहारविहारवाला योगी ऐसे अचल और आनन्दमय स्थानको प्राप्त होकर सब दुःखोंसे छूटजाता है, इसलिये उसका योग 'दुःखहा' कहाजाता है॥ १७ ॥

अब भगवान् युक्त शब्दका जो प्रयोग करते चलेआये हैं तिसका यथार्थ अर्थ अगले श्लोकमें बताते हैं।

+ स्त्री पुत्रादि संघात एवैकं पदमाश्रयो यस्य रागिणस्तेनोज्झितम् त्यक्तमव्यक्तत्वात्॥

मू०— यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८

पदच्छेदः— यदा (यस्यामवस्थायाम्) विनियतम् (विशेषेण नियतं स्थानसंयतमेकाग्रतामापन्नम् वा) चित्तं (अन्तःकरणम्) आत्मनि (स्वस्वरूपे) एव (निश्चयेन) अवतिष्ठते (स्थितिं लभते) तदा (तस्यामवस्थायाम्) सर्वकामेभ्यः (ऐहिकामुष्मिकभोगेभ्यः) निस्पृहः (विगततृष्णः) [सन्] युक्तः (निर्विकल्पः । प्राप्तयोगो वा) इति, उच्यते (कथ्यते) ॥ १८ ॥

पदार्थः— (यदा) जिस समय योगी (विनियतम्) सर्वप्रकारकी चिन्तासे वर्जित हो (चित्तम्) अन्तःकरणको केवल (आत्मनि, एव) आत्माहीमें निश्चयकर (अवतिष्ठते) स्थिर करता है (तदा) तिस समय (सर्वकामेभ्यः) सर्व प्रकारकी कामनाओंसे (निस्पृहः) तृष्णारहित होकर (युक्तः) समाहित अर्थात् योगमें युक्त है (इति उच्यते) ऐसा कहाजाता है ॥ १८ ॥

भावार्थः— अब भगवान् युक्त पुरुषका अर्थात् ध्यानयोग द्वारा समाधि प्राप्त कियेहुए पुरुषका चिन्ह बतातेहुए कहते हैं, कि [यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते] जिस कालमें योगी विशेष करके नियत चित्त होकर अपने स्वरूपहीमें स्थिर होजाता है अर्थात् सर्वप्रकारकी अन्य चिन्ताओंसे वर्जित होकर केवल अपने परमानन्दकी प्राप्तिकी चिन्तामें अपने अन्तःकरणको एकाग्र करलेता है । जैसे पक्षी

दिनभर भिन्न-भिन्न स्थानोंमें उड-उडकर अपना अहार चुगते फिरते हैं पर सन्ध्या होतेही सर्वप्रकार निश्चिन्त हो अपने घोंसलेमें आनन्द पूर्वक प्रवेशकर एकाग्र हो व्याधा इत्यादिके भयसे अथवा श्येन इत्यादि क्रूर पक्षियोंके भयसे चिन्तारहित होजाते हैं । इसी प्रकार जो योगी सांसारिक उपद्रवोंके भयसे रहित हो आत्माहीमें स्थिर होजाता है अर्थात् अपने स्वरूपहीमें अवस्थान करजाता है तबही वह युक्त कहलानेका अधिकारी होता है । इस प्रकार युक्त होनेकेलिये जो श्रेणियां बनायी हुई हैं उन्हें कहते हैं । प्रमाण श्रु०—"ॐयच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥" (कठो० अ० १ वल्ली० ३ श्रु० १३)

अर्थ— प्राज्ञ जो बुद्धिमान योगी है वह पहले वाग् जो वचन इत्यादि इन्द्रियां हैं उनको मनमें लय कर, तिस मनको ज्ञानात्मा जो बुद्धि तिसमें लय करे । पश्चात् उस बुद्धिको " महति ज्ञानात्मनि " श्रेष्ठ ज्ञानात्मामें लय करे, तिस ज्ञानात्माको शान्तात्मा अर्थात् परमानन्दात्मामें लय करे । एवम्प्रकार लय होताहुआ मुख्यात्मा भगवत्स्वरूपमें लय होजावे ।

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार अपने आत्मामें लय होकर जो लौकिक सर्व कामनाओंसे स्पृहा रहित होजाता है, तब वह " युक्त " कहाजाता है ।

प्रश्न— ध्यानयोगीको क्या भगवत्की अलौकिक छविका दर्शन होजाता है ?

उत्तर— इसमें क्या कुछ सन्देह भी है ? योगियोंके सम्मुख तो भगवान् सदा उपस्थित रहते ही हैं । भगवान् उसी योगीको सब योगियोंमें श्रेष्ठ मानते हैं जो उनके स्वरूपमें स्थित रहता है । सो आगे इसी अध्यायके ४७वें श्लोकमें कहेंगे " योगिनामपिसर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना " ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो योगी सब ओरसे चित्तवृतियों को समेट सर्व चिन्ता वर्जित आत्मस्वरूपमें स्थित हो, सर्व प्रकारकी कामनाओंको त्यागदेता है वही " युक्त " कहाजाता है । अर्थात् समाहितचित्त यथार्थ योगतत्त्वको पहुँचा हुआ कहाजाता है ॥ १८ ॥

अब भगवान् " युक्त " पुरुष के चित्तकी स्थिरताकी एक अद्भुत उपमा देकर दिखाते हैं—

मू०— यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनोयतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥ १६ ॥

पदच्छेदः— यथा (येन प्रकारेण) निवातस्थः (वातवर्जितदेशे स्थितः) दीपः (प्रदीपः दीपकदशाकर्षः । कज्जलध्वजः । ज्योत्स्नावृक्षः । दोषास्यः) न (नहि) इंगते (कम्पते । विचलति) सा (सैव) +उपमा (दृष्टान्तः) यतचित्तस्य (संयतान्तःकरणस्य । योगाभ्यासवलादेकाग्रीभूतान्तःकरणस्य) योगम् (ध्यानयोगम्) ×युंजतः (अनुतिष्ठतः) योगिनः

+उपमा—उपमीयते अनया इति उपमा

×युंजतो योगमात्मनः—आत्मनो योगं समाधिमनुतिष्ठत इत्यपि अन्वयः ।

(एकाग्रभूमौ संप्रज्ञातसमाधावारूढस्य) आत्मनः (अन्तःकरणस्य) स्मृता (योगज्ञैश्चित्तप्रचारदर्शिभिः चिन्तिता) ॥ १९ ॥

पदार्थः— (यथा) जैसे (निवातस्थः) वायुसे रहित स्थानमें स्थित (दीपः) दीपक (न) नहिं (इंगते) हिलता है (सा) सो ही (उपमा) दृष्टान्त(योगम्) ध्यानयोगको (युन्जतः) अनुष्ठान करतेहुए (यतचित्तस्य) यतचित्तवाले अर्थात् अन्तःकरणको संयममें रखनेवाले (योगिनः) योगीके (आत्मनः) अन्तःकरणकी (स्मृता) तत्त्वदर्शियोंद्वारा दीगई है अर्थात् निवातस्थानमें रखेहुए दीपककी स्थिर लौ के समान योगीका चित्तभी स्थिर रहता है ॥ १९ ॥

यहां दूसरा अन्वय इस प्रकार भी करसकते हैं, कि (आत्मनो योगयुन्जतः) आत्मयोग जो संप्रज्ञातसमाधि तिसे साधन करतेहुए योगीके चित्तकी उपमा दीगई है ।

भावार्थः— अब श्री योगेश्वरभगवान् योगियोंके अन्तःकरणकी एकाग्रताको दीपककी लौसे उपमा देतेहुए कहते हैं, कि [यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते] जैसे किसी घिरेहुए स्थानमें जहां वायुका वेग नहीं प्रवेश करसकता दीपककी लौ सीधी बलती रहती है । इधर उधर दायें बायें नहीं हिलती स्थिर और शान्त रहती है। भगवान कहते हैं, कि [सोपमा स्मृता । योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः] इसी प्रकारकी उपमा तत्त्वदर्शियोंने उनके अन्तःकरणकी दी है जो योगी योगमें आरूढ सदा ध्यानमें तत्पर अपने चित्तको योगाभ्यासके बलसे एकाग्र कियेहुए है ।

यहां "युञ्जतो योगमात्मनः" कहनेसे भगवान्का मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जब योगी धर्म्ममेघसमाधि में लय होजाता है तब उसकी एकाग्रताको बात रहित स्थानमें दीपककी लौ से उपमा देना चाहिये।

धर्म्ममेघ समाधि किसे कहते हैं ? सो सुनो ! "प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्याते धर्म्ममेघः समाधिः" (पातं० पा० ४ सू० २६) प्रसंख्यान अर्थात् पूर्णतत्त्वका बोध जिससे योगविद्याके सारे कीलकांटोंका भेद लाभ होता है। तिससे योगियोंको जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं उन सिद्धियोंको भी कुसीद अर्थात निन्दित जानकर त्याग देते हैं, तिस त्यागसे जो उन्हें विवेकख्याति प्राप्त होती है जिसके द्वारा सब शुभाशुभकर्मोंसे रहित होजाते हैं। तब पूर्वजन्मार्जित संस्कारोंके बीजके नाशहोजानेसे कैवल्य लाभ होकर फिर किसी प्रकारके प्रत्ययका उत्थान नहीं होता। इसी लिये वृत्ति सब ओरसे शान्तिको प्राप्तकर भगवत्स्वरूपमें लय होजाती है तब उसे धर्म्ममेघसमाधि कहते हैं। ऐसी समाधिवाले योगीके अन्तःकरणको दीपककी लौ से उपमा दीहै।

शंका— विवेकी तत्त्वदर्शियोंने जो दीपककी लौसे उपमादी है इसका क्या कारण ? स्थिरताकी उपमातो किसी पर्वतसे वा वृक्षके स्तम्भसे वा किसी गृहके खम्भसे देना उचितथा ?

समाधान— दीपककी लौसे उपमा देनेके अनेक कारण हैं। प्रथमतो यह है, कि अन्तःकरण भी ज्योतिस्वरूप प्रकाशमय है और दीपककी लौभी प्रकाशस्वरूप है, इसलिये प्रकाशको प्रकाशसे उपमा

देनी अधिक अनुरूप और योग्य है। क्योंकि जैसे लौ निर्वातस्थानमें स्थिर और अधिक प्रकाशमान होती है इसी प्रकार योगियोंका अन्तःकरण भी एकान्त देशमें अधिक प्रकाश करता है। दूसरा कारण यह है, कि अन्तःकरणका आधार जो चित्तवहानाडी जिसके आश्रय अन्तःकरण प्रवाह करता है उसका स्वरूप ठीक-ठीक दीपककी लौके आकारानुसार है। जैसे लौ जडमें कुछ मोटी फिर धीरे-धीरे गोपुच्छाकार वा सुरडाकार (गावदुम) होती हुई पतली सुईके समान नोक बनातीहुई समाप्त होजाती है, इसी प्रकार अन्तःकरणकी + चित्तवहानाडी भी भ्रूमध्यसे आरंभ होकर ललाट प्रदेशतक गोपुच्छाकार होती हुई चलीगयी है। इसी कारण दीपककी लौसे उपमा दीगयी है।

तीसरा कारण—

निर्वातस्थान कहनेसे यह तात्पर्य्य नहीं है, किं जहां एकदम वायु न हो वहां दीपककी लौ रक्खीजावे। प्रथम तो कोई स्थान निर्वात

+ प्रायः देखाजाता है, कि रामानुजसम्प्रदायके वैष्णवगण मस्तकपर जो चन्दन लगाते हैं उसमें तीन रेखायें खींचते हैं जिनमें मध्यवाली रेखा जिसे "श्री" कहते हैं ठीक दीपककी लौ के समान लाल वर्णकी बनाते हैं। यद्यपि वे वहिरंग साधनमें यों जनाते हैं, कि दोनों ओरकी दो रेखायें भगवान्‌के चरणारविन्द हैं और मध्यमें "श्री" जो लक्ष्मी है वह उन चरणोंकी सेवा कररही है। पर इस चिन्हसे कुछ अन्तरंग और आध्यात्मिक साधनका भी संकेत है। वह यह है, कि दोनों ओरकी दो रेखायें इंडा और पिंगला और मध्यमें सुषुम्णा नाडी का संकेत है। अर्थात् वे यह दिखलाते हैं, कि सुषुम्णा नाडी दीपककी लौ के समान भ्रूमध्यसे ब्रह्मरन्ध्रकी ओर चित्तवहा नाडीको अपने साथ लिये हुए चलीजाती है।

होही नहीं सकता। दूसरे यदि कोई निर्वातस्थान हो भी तो वहां दीपककी लौ बलही नहीं सकती। दीपककी लौ तबहीतक बलतीहुई रहेगी जबतक उस दीपकको कुछ भी थोडा बहुत पवन उस अग्निके प्रमाणानुसार सहायताके निमित्त मिलरहेगा यदि पवन लौके प्रमाणसे कम होगा तो भी लौ बुतजावेगी और अधिक होगा तो भी लौ बुतजावेगी। दीपकको हवाके झकोरेमें रखकर देखलो तथा किसी छोटी कुलियामें दीपकको रखकर उसका मुंह ढककर देखलो। दोनो दशाओंमें लौ बुतजावेगी। इसलिये लौ को उसके प्रमाणसे न अधिक पवन मिलना चाहिये और न कम पवन मिलना चाहिये। अतएव निर्वातस्थान कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि लौ के प्रमाणानुसार थोडा पवन हो। लौ की आग और हवा परस्पर युक्त हो तब तो उनकी मित्रता बनी रहे, और लौ जीवित रहे। इससे सिद्ध होता है, कि वही पवन लौका शत्रु है तथा वही पवन लौका मित्र है। इसलिये यहां योगीके अन्तःकरकी लौ से उपमा देनेका यही तात्पर्य्य है, कि योगीके आत्माको पांचभौतिक शरीरके साथ जो सम्बन्ध है सोही मानो अग्नि और वायुका मेल है। अर्थात् चैतन्य आत्मा और जड शरीरका मेल तबहीतक कल्याणकारक है जबतक प्रकृतिके गुणोंका ठीक-ठीक बोध करके योगीने चित्तकी समता प्राप्त करली है और युक्त होगया है। और जिसके किसी तत्त्वमें न्यूनाधिक्य नहीं है। क्योंकि न्यूनाधिक्य होनेसे अपना ही आत्मा अपना शत्रु है सो भगवान् पहले ही कह आये हैं, कि "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" आत्मा ही आत्माका बन्धु है और आत्माही आत्माका शत्रु है। सो जो प्राणी आत्मयो-

गमें अर्थात धर्ममेघसमाधि में (जिसका वर्णन पहले कर आये हैं) युक्त है, उसीका अन्त:करण दीपककी लौके समान स्थिर है । (देखो श्लो० ५ में)

चौथाकारण— दीपकसे उपमा देनेका यह है, कि जैसे दीपककी लौ सदा ऊर्द्ध रहती है । इसी प्रकार योगियोंका चित्त सदा ऊर्द्ध-मुख रहता है । अर्थात ज्ञानकी भूमिकाओंपरे धीरे-धीरे चढता चलाजाता है । अधोमुख नहीं होता । अधोमुख होनेसे विषयका संग होजाता है और तिस संगसे वासना बनी रहती है । जब वासना बनीरही तो मोक्षकी प्राप्ति नहीं होकर नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकना पडता है । इसलिये योगी सदा सर्वप्रकारकी वासनाओंको त्याग, अपने चित्तको निर्वातस्थान दीपककी लौके समान ऊर्ध-मुख रखे । इस दृष्टान्तसे भगवानका यही तात्पर्य्य है ।

शंका— भगवानने जो इस श्लोकमें "**योगिनो यतचित्तस्य**" कहकर चित्तको वशीभूत कियेहुए योगीके अन्त:करणकी उपमा लौसे दी तहां सन्देह यह है, कि बिना वासनाके त्यागे चित्त वशीभूत नहीं होसकता । तिस वासनाको पतंजलि इत्यादि शास्त्रकारोंने अनादि कहा है तो इस अनादिका त्याग कैसे हो ? यथा प्रमाण—

"**तासामनादित्वंचाशिषो नित्यत्वात्** (पतं० पा०४ सू० १०)

अर्थ— " तासाम ... आशिषके नित्य होनेसे वासनाओंको अनादित्व भी है । प्राणीके हृदयमें जो अपने विषयसुखके सदा प्राप्त रहनेकी अभिलाषा और नाश होनेका त्रास अथवा अपने

शरीरके वर्त्तमान रहनेकी उत्कण्ठा तथा मरजाने अथवा किसी दुःख के आगमनका आशय है, उसें आशिष कहते हैं सो नित्य है। देखो किसी प्रकारके भयसे छोटे बच्चोंके मुखका बिगडजाना, कांपने लगना इत्यादि चेष्टाओंके देखनेसे स्मृति द्वारा आशिष का नित्य रहना सिद्ध है। इसी आशिषके अनादित्वको देखनेसे वासनामें भी अनादित्व पाया जाता है। जब बासनाएँ नाश न हुई तो दीपककी लौ के समान चित्त कैसे स्थिर होसकता है? इसलिये भगवानका लौ से उपमा देना एकदेशिक जानपडता है, नित्य शांत वा स्थिर रहना नहीं सिद्ध होता। इसलिये लौ से स्थिरताकी उपमा केवल समाधिअवस्था में बन सकती है। पर व्युत्थान-अवस्थामें तो योगियोंके चित्तका भी चंचल रेहना सिद्ध होता है। ऐसी एकदैशिकस्थिरतासे क्या लाभ?

समाधान— बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये कि इन बासनाओंका कारण क्या है? तहां पतंजलि कहते हैं— "**हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः**" (पतं० पा० ४ सू० ११)

अर्थ— हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन ये ही चारों इस बासनाके कारण हैं। इन चारोंको वशीभूत करलेनेसे बासनाओंकी शान्ति होती है। यदि यह कहो, कि पहल बासनाओंको अनादि

टिप्पणी— ये चारों क्या हैं? सो कहते हैं सुनो!

(१) हेतु— अन्तरका अनुभव अर्थात् विषयसुखका जो प्राणीको भीतर-भीतर अपने हृदयमें अनुभव होता है जिसे अन्तरानुभव कहते हैं वही हेतु कहला‍ता है। जैसे स्त्रीसंगके रतिसुखका अनुभव।

कहा अत्र हेतु, फल इत्यादिके वश करनेसे उनका अभाव कहते हैं ऐसा पूर्वापर विरोध क्यों ? तो उत्तर यह है, कि स्वरूपतः किसी विशेष व्यक्ति (योगी) से तो इनका अभाव ही होजाता है पर सामान्यतः प्रवाहरूपसे इनका अभाव नहीं होता इसलिये ये अनादि

---

(२) फल— जाति, आयुष्य और भोग ये फल हैं ; क्योंकि अविद्याके ही कारण शरीरकी रचना हुई है जब तक अविद्या है तब ही तक *पुर्यष्टका तयार रहती है, जब तक पुर्यष्टका बनी रहती है तब तक वही पुर्यष्टका एक शरीरसे निकल दूसरे शरीर को ग्रहण करती है एवम्प्रकार एकके पीछे दूसरे शरीरको ग्रहण करती चलीजाती है । तहां भिन्न-भिन्न योनियोंमें भिन्न-भिन्न जाति, आयुष्य और भोग मिलते हैं यही फल कहलाता है ।

(३) आश्रय— बुद्धितत्वको आश्रय कहते हैं ; क्योंकि जितनी वासनाएँ हैं सब बुद्धिके आश्रय रहती हैं । अर्थात् बुद्धि ही निश्चय करनेवाली शक्ति है जो विषयों के स्वादको निश्चय करलेती है, कि यह स्त्री–सुख है, यह पुत्रसुख है, यह धनसुख है, यह रूपसुख है, यह रससुख है और यह गन्धर्वसुख है इत्यादि ।

(४) आलम्बन— जिसके देखने वा सुननेसे अर्थात् जिसके सम्मुख होनेसे चित्तको उत्तेजना होती है । जैसे स्त्रीके सम्मुखहुए कामोद्दीपन इत्यादि । यहां रूप आलम्बन है ।

---

* "भूतेयन्द्रमनोबुद्धिर्वासनाकर्मवायवः । अविद्याचाष्टकं प्रोक्तं पुर्य्यष्टमृषिसत्तमैः (इसका अर्थ देखो अ० २ श्लो० ३२ में)

कहीजाती हैं । इसी कारण जीव भी प्रवाहरूपसे अनादि कहाजाता है । स्वरूपतः तो इसका भी नाश ही होता रहता है जैसे स्वरूपतः जो अपनी जाति, आयुष्य और भोगका भ्रम है, कि मैं देव हूं, मैं नर हूं, मैं राक्षस हूं इत्यादि ये सब राग-द्वेषके कारण हैं और रागद्वेष धर्माधर्मके कारण हैं और वे भोग बासनाके कारण हैं। पुनः सो बासना भ्रमका कारण है। भ्रम रागद्वेषका, रागद्वेष धर्माधर्मका, धर्माधर्म भोगका, भोग बासनाका और बासना फिर भ्रमका । इसी प्रकार इनका अनादि चक्र सदा वर्त्तमान है । अतएव प्रवाहसे वासनाओंको अनादि कहा और स्वरूपतः इसका अभाव कहा।

इसी कारण भाष्यकार पतंजलि कहते हैं, कि हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन येही चारों वासनाके मूल कारण हैं। जब इन चारोंको वशीभूत करलेनेसे अन्तःकरणका अभिमान छूटजाता है तब वासनाओंका क्षय होकर योगीका चित्त निर्वातस्थानस्थ दीपकके समान ऊर्ध-मुख होकर स्थिर होजाता है। इसलिये यतचित्त योगीकी उपमा भगवानने ऊर्द्ध-मुख दीपकसे दी है। यहां शंका मत करो! दीपककी लौसे उपमा देनी अतिही अनुरूप और योग्य है ॥ १९ ॥

अब भगवान अगले चार श्लोकोंमें यह दिखलाते हैं, कि यथार्थ योग क्या है ? उसके लक्षण क्या हैं और किन लक्षणोंसे पहचान सकते हैं, कि यह पुरुष योगी है ?

मू०—यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगं वियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥
॥ २०, २१, २२, २३ ॥

पदच्छेदः— योगसेवया (योगानुष्ठानेन) यत्र (यस्मिन्-काले) निरुद्धम् (सर्ववृत्तिनिरोधेनैकाग्रीभूतं) चित्तं (अन्तःकरणम्) उपरमते (संसारविकारादुपरतिं लब्ध्वा स्वस्वरूपे विलीनं भवति) च (तथा) यत्र (यस्यामवस्थायाम्) आत्मना (समाधिपरिशुद्धेनान्तःकरणेन) आत्मानम् (परमचैतन्यज्योतिस्वरूपम्) पश्यन् (साक्षात्कुर्वन्) आत्मनि (तस्मिन् परमचैतन्यज्योतिस्वरूपे) एव (निश्चयेन) तुष्यति (सन्तुष्टो भवति) [तथा] यत्र (यस्मिन्नवस्थाविशेषे) आत्यन्तिकम् (अनन्तम् । निरतिशयम् अत्यन्तसमीपस्थम्) बुद्धिग्राह्यम् (रजस्तमोमलरहितया सत्त्ववाहिन्या-ग्रया सूक्ष्मया बुद्ध्या ग्राह्यम्) अतीन्द्रियम् (विषयेन्द्रियसम्बन्धातीतम् । अविषयजनितम्) यत् सुखम् (परमानन्दम्) तत् वेत्ति (जानाति । अनुभवति) च (तथा) [यत्र] अयम् (ध्यानयोगयुक्तपुरुषः)

स्थितः (दृढप्रतिज्ञया आत्मस्वरूपेणावस्थितः) तत्त्वतः (आत्म-स्वरूपात्) एव (निश्चयेन) न (नहि) चलति (प्रच्यवते) च (तथा) यम् (ज्योतिस्वरूपम्) लब्ध्वा (प्राप्य) ततः (तस्मात् परमानन्दलाभात्) अपरम् (अन्यम्) लाभम् (कल्याणम् फलम्) अधिकम् (श्रेष्ठम् । प्रशस्यतरम् । उत्कृष्टम्) न मन्यते (नैव चिन्तयति) यस्मिन् (निरतिशयानन्दे ब्रह्मणि) स्थितः (तादात्म्यं प्राप्तः) गुरुणा (महता) दुःखेन (क्लेशेन । जन्ममरणत्रासेन) अपि, न विचाल्यते (स्वरूपान्न प्रचलितो भवति नाभिभूयते वा) तम् (आत्मावस्थाविशेषम्) दुःखसंयोगवियोगम् (दुःखसंयोगेन रहितम्) योगसंज्ञितम् (योगशब्दवाच्यम् । योग-चिन्हितम्) विद्यात् (विजानीयात्) सः, योगः, अनिर्विण्ण-चेतसा (निर्वेदरहितेन चित्तेन) निश्चयेन (शास्त्राचार्य्योपदेशजनितेनाध्यवसायेन) योक्तव्यः (अभ्यसनीयः) ॥ २०, २१, २२, २३ ॥

पदार्थः— (यत्र) जिस समय (योगसेवया) योगके अनुष्ठान द्वारा (निरुद्धम्) सर्वप्रकारकी वृत्तियोंसे निरुद्ध हुआ (चित्तम्) चित्त (उपरमते) सर्व विषयोंसे उपरामको प्राप्त होता है (यत्र च) फिर जिस समय (आत्मना) समाधिसे शुद्ध अन्तः-करण द्वारा (आत्मानम्) परम चैतन्य ज्योतिःस्वरूप आनन्दघनको

टि०— एतावता कालेन योगः न सिद्धः किमतः परं कष्टम् । अत्यनुतापः निर्वेदः तद्रहितेन ।

इह जन्मनि जन्मान्तरे वा योगः सिद्धति त्वरया किमित्येवं धैर्य्ययुक्तेन मनसा ।

(पश्यन्) देखताहुआ अर्थात् साक्षात् करताहुआ (आत्मनि) आत्माहीमें (एव) निश्चय करके (तुष्यति) सन्तोषको प्राप्त होता है तथा (यत्र) जिस समय (आत्यन्तिकम्) अत्यन्त समीपस्थ और (बुद्धिग्राह्यम्) निर्म्मल बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य (अतीन्द्रियम्) तथा विषयको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंके सम्बन्धसे रहित (यत् सुखम्) जो सुख है (तत्) तिसको (वेत्ति) योगी जान लेता है (च) और (यत्र) जिस समय (अयम्) यह योग साधन करनेवाला (स्थितः) अपने अनुष्ठानमें दृढ प्रतिज्ञासे स्थित रहकर (तत्त्वतः) आत्मस्वरूपसे (नैव) कभी नहीं (चलति) डिगता है (च) और (यम्) जिसको (लब्ध्वा) लाभ करके (ततः) तिससे (अपरम्) अन्य किसी प्रकारके (लाभम्) लाभको भी (अधिकम्) अधिक (न) नहीं (मन्यते) मानता है फिर (यस्मिन्) जिस अवस्थामें (स्थितः) स्थिर होकर (गुरुणा दुःखेन) बहुत बडेदुःखसे अर्थात् जन्म मरणके भयसे (अपि) भी (न) नहीं (विचाल्यते) डांवाडोल होता है (तम्) तिसी (दुःखसंयोगवियोगम्) दुःखके संयोगसे रहित आत्मावस्था विशेषको (योगसंज्ञितम्) योग शब्दका वाच्य अर्थात् यथार्थ योग (विद्यात्) जानना चाहिये (सः) सोही (योगः) योग (अनिर्विण्णा) निर्वेद अर्थात् व्याकुलता रहित (चेतसा) चित्तसे (निश्चयेन) निश्चयकरके (योक्तव्यः) अभ्यास करने योग्य है ॥ २०, २१, २२, २३ ॥

भावार्थः— योगियोंके चित्तकी उपमा दीपककी लौ से देकर अब श्री आनन्दकन्द चारे श्लोकोंमें यह दिखलाते हैं, कि किस-किस अवस्था विशेषको योग कहना चाहिये । अर्थात् इस योगतत्त्वको अनेक विशेषणोंसे युक्त करके दिखातेहुए भगवान् कहते हैं, कि [यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया] जिस अवस्थामें योगके अनुष्ठान द्वारा चित्तवृत्तियोंके निरुद्ध होजानेसे अर्थात् रुक-जानेसे सब झंझटोंको छोड-छाड चित्त अपने आत्मस्वरूप में लय होजाता है उसी अवस्थाको योग कहते हैं । पाठकोंके बोधार्थ चित्त-वृत्तियोंका वर्णन विस्तार पूर्वक करके उनका निरोध योगानुष्ठानसे कैसे होता है ? सो दिखलाया जाता है । योगसूत्रके कर्ता पतंजलि कहते हैं, कि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (पतं० पा० १ सू० २)

अर्थ—"चित्तस्य अन्तःकरणस्य वक्ष्यमाणा या वृत्तयस्तासां निरोधो निवर्त्तनं योग इत्यर्थः" अर्थ— चित्त जो अन्तःकरण तिसकी वृत्तियोंका जो निरोध अर्थात् निवर्तन है उसे योग कहते हैं । निवर्तन प्रय-त्नविशेषको कहते हैं (प्रयत्नविशेषो वृत्तिविलयहेतुः) वृत्तियोंके लय होनेका हेतु किसी प्रकारका विशेष प्रयत्न ही है। अब वे वृत्तियां जिनको योगी, योग-सेवासे निरुद्ध करके उपरामको प्राप्त होगा कितने प्रकारकी हैं ? सो पाठकोंके कल्याण निमित्त यहां वर्णन कीजाती हैं । "वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः" क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियां पांच प्रकारकी हैं । क्लिष्ट तो दुःख देनेवाली वृत्तियां हैं और अक्लिष्ट वे हैं जिनसे दुःख नहीं होता, वरु सुखदायिनी हैं । जैसे किसी बालक ने अपने विवाहका बृतान्त सुना तो उसके अन्तःकरणमें सुन्दर स्त्री

प्राप्त होनेके विषय जो वृत्तियां दौडरही हैं वे अक्लिष्ट वृत्तियां हैं। और जब उसीने सुना, कि जिस स्त्रीसे विवाह होनेवाला था वह मरगई तबसे वे ही वृत्तियां क्लिष्ट अर्थात् दुःखदायिनी होगईं। इसी प्रकार अन्तःकरणमें पुनःपुनः क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियां दौडती रहती हैं। सो वृत्तियां प्राणीको शान्ति अवस्थामें स्थिर होनेका अवकाश नहीं देती हैं। तिनके पांच भेद हैं प्रमाण— "प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।" (पतं० पा० १ सू० ६) अर्थात् १. प्रमाण २. विपर्यय, ३. विकल्प, ४. निद्रा और ५. स्मृति ये पांच प्रकारकी वृत्तियां हैं जिनको अन्तःकरण अहर्निश वर्तता रहता है।

अब इन पांचोंका भिन्न-भिन्न वर्णन करके यह दिखलाया जाता है कि ये वृत्तियां किस प्रकारके यत्न करनेसे निरुद्ध होती हैं। अर्थात् एक-एकको निरोध करनेके कौन-कौनसे यत्न हैं? जिन योगाभ्यासी अपनी वृत्तियोंका निरोध सुगम रीतिसे करसके।

पहले पांचों वृत्तियोंके स्वरूप सुनो!

प्रमाण— (प्रमा साधनं प्रमाणम्) जब अन्तःकरण किसी वस्तु-तत्त्वको ठीक-ठीक समझने और उसके यथार्थ बोध निमित्त नाना प्रकारकी उपपत्तियोंको सम्मुख रखकर न्याय करने लगजाता है तब जिस सिद्धान्त द्वारा उस तत्त्वके हां वा ना, शुद्ध वा अशुद्ध, यथार्थ वा अयथार्थ, समझनेकी जो शक्ति प्राप्त होती है उसे प्रमाण कहते हैं। तहां योगशास्त्रने अनेक प्रमाणोंसे केवल तीन ही प्रमाण स्वीकार किये हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तहां—

(क) "तत्रानधिगतार्थनिश्चयरूपा चित्तवृत्तिरूपा प्रत्यक्ष प्रमाणम।" अर्थ— जब इन्द्रिय और अर्थ दोनोंका सन्निकर्ष अर्थात् सामीप्य वा संयोग होता है अन्य कुछ भी उनके मध्यमें बाधक नहीं होता तथा व्यभिचार रहित अर्थात् सर्व प्रकारकी शंकाओंसे वर्जित ज्ञानको धारण करनेवाली चित्तकी वृत्ति उत्पन्न होती है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अर्थात् चित्त-वृत्ति जब वस्तु-तत्त्वको ज्योंका त्यों निश्चय करलेवे तब उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहना चाहिये।

इसी प्रमाणसे योगियोंको समाधिकी अवस्थामें ब्रह्मका निश्चय होजाता है सो अक्लिष्ट हैं अर्थात् सुखदायी है। पर सामान्य पुरुषोंके लिये संसृत-व्यवहारोंमें प्रत्यक्षप्रमाण-वृत्ति क्लिष्ट अर्थात् दुःखदायी है। ये तो योगियोंके लिये प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। परे सामान्य प्राणियोंकी दृष्टिमें जो सम्पूर्ण विश्वमात्रके सूर्य्य, चन्द्र, तारागण, आकाश, वायु अग्नि, जल, पृथ्वी तथा स्थूल शरीरके अन्तर्गत जो रोम, चर्म इत्यादि सप्त धातु हैं जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण कीजाती हैं सब प्रत्यक्ष-प्रमाण ही हैं। इसलिये सामान्य पुरुषोंका चित्त इन प्रत्यक्षमें दौडता फिरता है उसीका नाम प्रत्यक्षप्रमाण—वृत्ति है। यही वृत्ति सामान्य पुरुषोंके लिये क्लिष्ट और योगियोंके लिये अक्लिष्ट है।

(ख) अनुमानप्रमाण—"व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्म्मता ज्ञानजन्य-ज्ञानम्"। जिस ज्ञानकी उत्पत्ति, व्याप्तिको देखकर होवे अर्थात् जो वस्तु किसी विशेष वस्तुमें व्याप्त है और वह व्याप्त वस्तु विशेष करके जाननेवाली वस्तुका धर्म्म समझा जावे, तिसके द्वारा जो उस मुख्य

वस्तुका ज्ञान उत्पन्न होवे उसे अनुमान कहते हैं । जैसे " धूमदर्शनाद्वन्हिमान पर्वत इत्याकारं ज्ञानम् । " इसी प्रकार इस स्थूलको चलते, फिरते, खाते, पीते, उठते, बैठते, सोते, जागते, देखकर यह अनुमान करना, कि इस स्थूल शरीरके साथ कोई और भी चैतन्य है जो प्राणके संयोगसे सर्वप्रकारके कार्य्योंके सम्पादनमें सहायता करता है तथा मेरी योग-क्रिया इस जन्ममें बडी शीघ्रतासे सिद्ध होती चली जाती है इससे अनुमान होता है, कि मैं पूर्व जन्ममें भी योगी था अथवा मेरा पुत्र बिना शास्त्र अध्ययन किये शुद्धवाक्य उच्चारण करता है इससे अनुमान होता है, कि पीछे यह महान विद्वान होगा । यह भी अनुमान प्रमाणवृत्ति सामान्य पुरुषोंके लिये दुःखदायी है पर योगियोंको इसका निरोध आत्मज्ञानसे होजाता है ।

(ग) शब्दप्रमाण— " **योग्यशब्दजन्या वृतिश्च शब्दप्रमाणम्** " शास्त्र पुराणोंमें तथा वेदादि द्वारा योग्य पुरुषोंके वचनोंसे जो वृत्तिकी उत्पत्ति है सो शब्दप्रमाण वृत्ति कही जाती है । ब्रह्मलोक, प्रजापतिलोक, वृहस्पतिलोक, इन्द्रलोकादि लोकोंका वृत्तान्त सुनकर अथवा स्वर्ग नरकके वृत्तान्तोंको श्रुति स्मृतियों द्वारा पठनकर तदनुसार वृत्तिका प्रवाह होना शब्दप्रमाण-वृत्ति कही जाती है ।

इतनी प्रकारकी वृत्तियोंको **प्रमाण** कहते हैं । इन प्रमाणजन्य वृत्तियोंका निरोध केवल वैराग्यसे होता है । अर्थात जब ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्तके विषयोंसे विराग उत्पन्न होता है तब **प्रमाणजन्य वृत्तियां** आपसे आप नष्ट होजाती हैं । इसी कारण सूत्रकार पतंजलिने

कहा है, कि "अभ्यासवैराग्याभ्यान्तन्निरोधः" (प्रतं० पा० १ सू० १२) अभ्यास और वैराग्यसे वृत्तियोंका निरोध होता है। तहां प्रमाणजन्य वृत्तिका वैराग्यसे और शेष वृत्तियोंका (जिनका आगे वर्णन करेंगे) अभ्याससे निरोध होजाता है।

२. विपर्यय— "मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम" जो वस्तु जैसी नहीं है तैसी समझनेका जो मिथ्या ज्ञान है उसीको विपर्यय कहते हैं। जैसे "शुक्तिकायां रजतज्ञानम्" सीपमें चांदीका ज्ञान होना। इसी प्रकार प्राणियोंको जबतक अनात्ममें आत्मा भासता है अर्थात मिथ्या वस्तु सत्य समझमें आती है अनित्य संसारको नित्य समझकर इसके साथ नाना प्रकारकी मिथ्या वृत्तियों द्वारा व्यवहार करते हैं तब तक उसे विपर्ययवृत्तिकहते हैं। इस वृत्तिका भी नाश केवल आत्मबोधसे होता है। तात्पर्य यह है, कि इसके नाश निमित्त योगियोंको आत्मयोगका बार-बार अभ्यास करना चाहिये।

३. विकल्प— "शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्यो विकल्पः" अर्थ— जो वस्तु एकबारगी है ही नहीं, न भूतकालमें हुई। न वर्तमानमें है और न भविष्यमें होगी अर्थात तीनोंकालोंमें वस्तुतः जिसकी शून्यता है पर केवल शब्दमात्र ही काममें आता है उसे विकल्प कहते हैं। तिसके पीछे जो साधारण पुरुषोंकी वृत्ति चलती है उसे विकल्पवृत्ति कहते हैं। जैसे "राहोशिरः, शशश्रृंगम्।" अर्थात राहुका शिर, खरहेका-सींग इत्यादि। फिर कभी-कभी काव्यादि में जहां तहां वाक्योंकी उपमा देनेके समय कहपडते हैं, कि अमुक

प्राणीकी बात तो आकाशके पुष्प ऐसी सुहावनीमात्र है । अर्थात् आकाशमें पुष्प कभी नहीं होता पर उपमा देदिया करते हैं इसलिये केवल शब्दज्ञानानुपात मात्र है यथार्थमें वस्तुकी शून्यता है । पर शून्य-वस्तुमें भी जब वृत्ति प्रवाह करती है और उस शून्य वस्तुकाभी प्रभाव प्रायः मूर्खोंके अन्तःकरणपर पडता है तो वहभी दुःखदायी होता है । जैसे अन्य सब वृत्तियां क्लिष्ट अक्लिष्ट हैं ऐसी ही यह वृत्तिभी है ।

साधारण मूर्खपुरुषोंको यह वृत्ति किस तरह दुःखदायी होती है सो दिखलायाजाता है—

एक घीका व्यापारी अपने घीका घडा किसी एक कुलीके शिर-पर रखकर लेचला । अपने घरसे अपनी दूकानतक पहुंचादेनेकेलिये चारआने पैसेदेने स्वीकार किये । वह मूर्ख कुली अपने मनहीमन विचारने लगा, कि मुझे जो ये चारआने पैसे मिलेंगे उनसे मैं एक कुक्कुटी (मुर्गी) मोल लूंगा, वह बच्चे देगी तो उन बच्चोंको वेचूंगा जिससे दो रुपये के लगभग होंगे । तब उन रुपयोंसे एक अजा (बकरी) मोल लूंगा जो थोडे दिनोंमें कई बच्चे देगी उनको वेचकर दश पन्द्रह रुपये बनालूंगा । तब एक बछिया मोललूंगा । बछिया पालकर बडी करूंगा । वह बच्चें देवेगी तिनको बेचकर पचास रुपये एकत्र करलूंगा । फिर उन पचास रुपयोंसे एक अत्यन्त सुन्दर अश्व (घोडा) मोल लूंगा । ससुराल चलनेके समय उस अश्वपर यों उछलकर चढूंगा । बस इतना विचारताहुआ जो एकबार

उछला, कि सिरसे घडा गिरकर फूटगया और घृत मिट्टीमें मिलगया। बनियेने उसे बेत मारना आरंभ किया। और कहा, कि तूने मेरे घीका घडा क्यों गिरादिया? कुली बोला तूने मेरे जांघोंके नीचेसे घोडा क्यों भगादिया? कुलीकी बातोंपर लोग हँसे और बनियेको समझा बुझाकर उसकी मारसे कुलीकी जान बचाई।

इस दृष्टान्तसे देखाजाता है, कि न तो कहीं कुक्कुटी है, न अजा है, न बछिया है और न अश्व है। सब वस्तुओंकी शून्यता है पर इस शून्यवृत्तिका भी प्रभाव ऐसा पडा, कि बनियेका घी नष्ट गया और कुलीने वेतोंकी मार खायी। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि इसी प्रकार विकल्पवृत्ति मूर्खोंको दुःखदाई होती है, पर योगियोंको साव-धानतापूर्वक अभ्यास करनेसे अर्थात् युक्त होनेसे इस विकल्पवृत्ति का भी नाश होजाता है।

४.— "अभावप्रत्ययावलम्बना वृत्तिर्निद्रा" (पतं० पा० १ सू० १०) जिस समय सर्व प्रकारकी वस्तुओंका चित्तसे अभाव होजावे अर्थात् अन्तःकरण पर अविद्याका आवरण पडजानेसे कुछभी उसके सम्मुख शेष न रहे, प्रज्ञा अन्तर्मुख होजावे, वृत्ति-यां सब एकस्थानमें सिमटकर एकीभूत होजावें उसे निद्रावृत्ति कहते हैं। यह तो स्वयं निरुद्ध है इसके निरोध करनेकी कोई आवश्य-कता नहीं। पर योगीको चाहिये, कि नियमित निद्रा लेकर फिर अपने ध्यानयोगके साधनमें तत्पर होवे। यदि इस वृत्तिको एकबारगी नाश किया चाहे तो तपोबलसे अथवा पूर्ण साहस द्वारा **गुडाकेश** अर्थात् निद्रा-जित होसकता है।

५. स्मृति— " अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः " (यो० पा० १ सू० ११) अर्थात् जिस विषयका एकबार अनुभव होचुका है उसका असम्प्रमोष (अन्तःकरणसे चोरी नहीं होना) अर्थात् नाना प्रकारके विषयोंके सुख दुःखको जो इन्द्रियोंके द्वारा एकबार अनुभव करलेते हैं उनका अन्तःकरणसे नहीं हटना ही स्मृतिवृत्ति है । जैसे स्त्रीसुख, पुत्रसुख, धनसुख अथवा शत्रुद्वारा जो दुःख इनकी स्मृति बार-बार बनी रहती है । इसका बिरोध अन्तःकरणकी शुद्धि लाभ करनेसे होता है ।

अब देखा जाता है, कि चित्तकी जितनी वृत्तियां हैं सब योगानुष्ठानसे विरुद्ध होजाती हैं । क्योंकि योगीको वैराग्यसे प्रमाण रूप वृत्तिका निरोध, आत्मयोगसे विपर्ययरूप वृत्तिका निरोध, युक्तमानस होनेसे विकल्परूप वृत्तिका निरोध, निद्राजित होनेसे निद्रारूपवृत्तिका निरोध और शुद्ध अन्तःकरण होनेसे स्मृतिरूप वृत्तिका निरोध होजाता है । ये सब गुण योगियोंमें होते हैं । इनहीं तत्त्वोंके साधनमें तत्पर होना तथा आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि के अभ्यासमें तत्पर रहना योगानुष्ठान कहाजाता है ।

इसी कारण श्री गोलोक बिहारी जगतहितकारी कहते हैं, कि प्राणीका अन्तःकरण " योगसेवया " योगके अनुष्ठानसे जब उपरामको प्राप्त होता है तब उसी अवस्थाको योगसंज्ञासे पुकारना चाहिये । यह प्रथम लक्षण योगका है । अब दूसरा सुनो !

भगवान् कहते हैं, कि [**यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति**] जब प्राणी अपने निर्म्मल अन्तःकरणसे उस आत्माको अर्थात् सच्चिदानन्दघन भगवत्स्वरूपको साक्षात्कार करता हुआ आपसे आप उसी स्वरूपमें सन्तोष प्राप्तकर लेता है अर्थात् पूर्णप्रकार सन्तुष्ट हो अन्य किसी सुखकी इच्छा नहीं करता, तब उसी दशाको योगसंज्ञाके नामसे पुकारना चाहिये।

इसी विषयको भगवान् दूसरे अध्यायके ५५ श्लोकमें भी कह आये हैं, कि "**आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते**" अर्थात् सर्वप्रकारकी अन्य कामनाओंको त्यागकरके जब प्राणी केवल अपने आत्मा ही में सन्तुष्ट हो रहता है तो उसीको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। फिर पांचवें अध्याके २४ श्लोकमें भी कह चुके हैं कि "**योऽन्तःसुखोऽन्तरारामः**...." अर्थात् आत्मा ही में जिसको सुख है और आत्मा ही में जो आनन्दपूर्वक रमण करनेवाला है वही प्राणी मोक्षको प्राप्त होता है। इसी विषयको यहां स्पष्टरूपसे कहते हैं, कि जब प्राणी अपने अन्तःकरणको निष्काम कर्मोंके सम्पादन द्वारा कर्मयोगके अनुष्ठानसे मलरहित करके शुद्धकरलेता है अर्थात संशय, विपर्यय इत्यादि वृत्तियां उसको नहीं सतातीं और रागद्वेषके कठिन बन्धनको जब तोड डालता है, तब सर्व प्रकारकी संसृत-चिन्ताओंसे वर्जित हो निर्मल अन्तःकरणसे 'आत्मानं पश्यन्' उस नित्य अविनाशी सच्चिदानन्द घन भगवत्स्वरूपको साक्षात्कार करताहुआ "आत्मनि तुष्यति" आत्मा ही में सन्तोषको प्राप्त होता है। अर्थात् आत्मरति आत्मतृप्ति और आत्म तुष्टिको प्राप्त करता हुआ आत्मा ही में

मग्न रहता है तब जानना चाहिये, कि इस प्राणीको योगका लाभ हुआ है । श्रुति— ॐ यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् (मुं० ३ खं० २ श्रु० ८) ।

अर्थ— जैसे गंगा, यमुनादि नदियां अपने प्रवाहसे कल्लोलें करती हुई अपने नाम और रूपको त्याग समुद्रमें जा लय होजाती हैं, इसी प्रकार योगानुष्ठान करनेवाला विद्वान् इस नामरूपात्मक माया के विस्तारसे छूटकर उस दिव्य परात्पर पुरुष भगवत्स्वरूप रूप आनन्द-सागरमें लय होजाता है । तब जानना चाहिये, कि इस प्राणीको ध्यानयोगकी प्राप्ति होगयी और तब उस अवस्थाको योग शब्द वाच्य कहना चाहिये । यह योगका दूसरा लक्षण है ।

अब तीसरा लक्षण सुनो, भगवान् कहते हैं, कि [सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् । वेत्ति] जो सबसे महान् अत्यन्त सुख है, जिस सुखसे बढकर कोई दूसरा सुख ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्त नहीं है अर्थात् सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत्में जितने सुख हैं सब नश्वर होनेके कारण अत्यन्त न्यून हैं पर यह ब्रह्मसुख नित्य होनेके कारण अत्यन्त उत्कृष्ट और यथार्थ सुख है । इसलिये यह ⊛ आत्यन्तिकसुख कहाजाता है। क्योंकि यह तो स्वयं

⊛ आत्यन्तिक शब्दका अर्थ " अति निकट " भी है इसलिये ब्रह्मसुखको जो अपने अत्यन्त निकट है आत्यन्तिक कहा है । अन्य जितने सुख हैं

प्राणीका अपना सर्वस्व है जो उसके साथ ही साथ तीनों कालोंमें वर्तमान रहता है । केवल अविद्याके आवरणसे अनुभव नहीं होता है पर अविद्या हटजानेसे योगीके सामने झट प्रकट होजाता है। इसी कारण भगवान्ने इस आत्मसुखको आत्यन्तिक सुख कहा है जिससे बढकर कोई दूसरा सुख नहीं तथा जिससे अत्यन्त समीप वाला कोई अन्य सुख नहीं । सो आत्यन्तिक सुख कैसा है ? भगवान् कहते हैं, — " तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् वेत्ति " बुद्धि-ग्राह्य और अतीन्द्रिय जो सुख है तिस सुखको जब योगी जानता है तब जानना चाहिये, कि योगी योगतत्त्वको प्राप्त हुआ है और तब उस अवस्थाको योग शब्दवाच्य कहना चाहिये ।

अब बुद्धिग्राह्य और अतिन्द्रिय इन दोनों शब्दोंकी व्याख्या कीजाती है। "बुद्धिग्राह्य" जो सुख बुद्धिसे ग्रहण करनेमें आवे और जिसे ग्रहणकर बुद्धिस्थिररहे लोप न होजावे । विषयसुख और आत्म-सुखमें इतनाही अन्तर है, कि विषयसुख केवल इन्द्रियग्राह्य हैं बुद्धिग्रा-ह्य नहीं हैं। क्योंकि विषयसुखके आस्वादन करनेके समय एक प्रकारकी सुषुप्ति उत्पन्न होकर बुद्धिको अविद्यामें डालदेती है, तब बुद्धि ही उस सुखमें लय होकर विचार-शून्य होजाती है । जैसे किसी भंग पीने-

वे अपनेसे बहुत दूर हैं क्योंकि स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि द्वारा जो नाना प्रकारके विषय-सुख प्राप्त होते हैं वे शरीर छूटनेके पश्चात् अपनेसे इतनी दूर पडजाते हैं, कि फिर उनका मिलना असंभव होजाता है । इसलिये विषयके सुख आत्यन्तिक नहीं कहे जासकते ।

वालेको आनन्द तबहीतक है जबतक इतने प्रमाणसे ग्रहण करता है जिससे बुद्धि स्थिर होकर उस आनन्दको ग्रहण करती है तथा उसी आनन्दमें मग्नहो नाना प्रकारके सुरोंको अलापताहुआ गानविद्याके जानने वालोंको भी प्रसन्न करता है तबतक उस आनन्दको बुद्धिग्राह्य समझना चाहिये। क्योंकि बुद्धि लोप न होनेसे उस आनन्दके साथ उसका विचार भी बनाहुआ है। पर जब वही प्राणी प्रमाणसे अधिक भंग वा कोई दूसरी मादक वस्तु पान करजाता है तब वह विचार जाता-रहता है, बुद्धि लुप्त होजाती है। इसी प्रकारकी दशा सर्वप्रकारके विषय-सुखोंमें भी होती है। क्योंकि सर्व विषयसुख विकारवान् और मलीन हैं इसकारण बुद्धिको बिगाड डालते हैं। पर ब्रह्मसुख अत्यन्त गंभीर होनेके कारण विकारवान् नहीं वरु सदा एकरस पूर्ण है। जैसे समुद्र जलसे परिपूर्ण होनेके कारण कभी भी विकारेवान् नहीं होता। चाहे कितनी भी नदियां उसमें जा मिलें चाहे दिन रात मेघमाला वर्षा करती रहे। इसी प्रकार ब्रह्मसुख चाहे कितना भी अधिकसे अधिक होजावे पर बुद्धिको लोप नहीं करसकता। देखो वर्षाऋतुमें जलकी बाढ पानेसे छोटी-छोटी नदियां विकारवती हो आस पासके ग्रामोंको बहालेजाती हैं। इसी प्रकार विषयसुख वृद्धिपानेसे इन्द्रियों द्वारा बढते-बढते बुद्धि और विचारके ग्रामोंको बहालेजाता है। अतएव भगवानने योगियोंके सुखको बुद्धिग्राह्य कहा है। प्रमाण श्रु०— "ॐ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभ-वाप्ययौ ॥" (कठो० अ० २ वल्ली० ६ श्रु० ११)

अर्थ— जब बुद्धिके साथ-साथ सब इन्द्रियां अचल अवस्थाको

प्राप्त होती हैं तब उसीको योग कहते हैं। तबही वह योग अप्रमत्त कहाजाता है। अर्थात् जिस अवस्थामें फिर इन्द्रियों द्वारा किसी प्रकारके " प्रभवाप्ययौ " आरंभ और विनाश तथा लय और विक्षेपका भय नहीं रहता वही ठीक-ठीक योगकी अवस्था है। क्योंकि बुद्धि मत-वालोंके समान उन्मत्त नहीं होती और सुखमें लय और विक्षेपका भय नहीं रहता।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि आत्मसुखमें बुद्धि स्वादको पाकर अपने स्वरूपको भूल नहीं जाती, प्राणी बुद्धिहीन नहीं होजाता और सर्व प्रकारके सुखमें **लय, विक्षेप, रसास्वाद** और **कषाय** जो चार प्रकारके विकार हैं जो योगियोंकी समाधिके विरोधी हैं वे ब्रह्मसुख (समाधि) की बुद्धिको नष्ट नहीं करते। क्योंकि इन चारों दोषोंके रहते समाधिसुख बुद्धिग्राह्य नहीं कहा जासकता। अब उक्त चारों प्रकारके विकारोंका स्वरूप कहते हैं—

१. लय—अत्यन्त प्रसन्नताके कारण सुषुप्तिके समान वृत्तिका सुखमें डूब जाना।

२. **विक्षेप**—निरुद्ध हुए मनमें फिर संकल्पोंका उदय होना।

३. **कषाय**—लयतासे जगा हुआ समताको जबतक प्राप्त नहीं होता ऐसी समाधिकी मध्यमा अवस्थामें अटका हुआ चित्त कषाय दोष वाला कहलाता है।

४. **रसास्वाद**—समाधिसुखमें राग होजाना।

तहां श्री शंकराचार्य्यजीके गुरुदेव श्री गौडपादाचार्य्यजी इन चारोंसे बचनेकी आज्ञा देते हुए कहते हैं —

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
स कषायं विजानीयात् समप्राप्तं न चालयेत् ॥
नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसंगःप्रज्ञया भवेत ।
निश्चलं निश्चरच्चित्तं एकीकुर्य्यात्प्रयत्नतः ॥
(गौडपादीयकारिका प्रकरण ३ श्लो० १२३, १२४)

अर्थ—सुषुप्तिके समान लयमें डूब गये हुए चित्तको प्रबुद्ध करे अर्थात् जगावे और विक्षेपको प्राप्त हुए चित्तको शान्त करे अर्थात् समाधि-सुखमें डूबनेसे पहले चित्तको सावधान और चैतन्य रखे पर ऐसा न हो, कि वह चित्त किसी विकारसे विक्षिप्त होजावे इस कारण विक्षेपसे भी उसे शान्त रखे। अब कहते हैं, कि इन दोनों लय और विक्षेप अवस्थाओंके मध्य जबतक चित्त समताको प्राप्त न हो तब तक उसे कषायदोष कहते हैं सो "स कषायं विजानीयात" योगी बडी सावधानता और कुशाग्रबुद्धिसे उस कषाय दोषको जानले। और जब चित्त इस दोषसे रहित होकर समताको प्राप्त होने लगे तब उस समतासे चित्तको चलायमान करे अर्थात् फिर उसे फुरने न देवे। नहीं तो विक्षेपके प्राप्त होनेका भय है।

तात्पर्य यह है, कि जैसे लय और विक्षेपके दोषोंसे चित्तको रहित किया है इसी प्रकार इस कषाय दोषसे भी रहित कर समतामें रखे प्राप्त।

एवम्प्रकार लय, विक्षेप और कषाय दोषोंसे बचाकर रसास्वाद चौथे दोषसे भी बचावे। अर्थात् योगी कहीं अपनी बुद्धिको स्थिर कर समाधि–सुखके रसका आस्वादन न करने लगजावे। क्योंकि रसास्वादमें पडनेसे प्रज्ञा लुप्त होजाती है फिरतो जैसे अप्सराएं ब्रह्मसुखतक पहुँचनेके मार्गमें अपना सुख दिखा कर योगीको बीच मार्गमें ठहरालेती हैं इसी प्रकार रसास्वाद भी समाधिकी सिद्धिमें अर्थात् भगवत्स्वरूपके आनन्द तक पहुँचनेमें विघ्नकारक है। इसीलिये रसास्वादसे भी प्रज्ञाको निःसंग होना चाहिये अर्थात् सविकल्प-समाधिके अन्त और निर्विकल्पसमाधिके पूर्व तक जो समाधिका सुख है उसीको यथार्थ रसास्वाद कहते हैं। योगी तिस सुखमें आसक्त होकर न फँसे। आगे निर्विकल्प-समाधि तक पहुँचनेका यत्न करे। विवेकवती बुद्धि करके उस सुखसे निस्पृह रहे। एवम्प्रकार असंगबुद्धिसे परमानन्दमय आत्मा की भावना करे और चित्तको यत्न पूर्वक निश्चल करके एकाकार करे। अर्थात् समाधि-रूप प्रयत्नसे बुद्धिको अन्तरात्माके सम्मुख कर चिन्मात्र सत्ता-स्वरूपके विषयोंको एकीभूत करदेवे। तात्पर्य यह है, कि अहं ब्रह्मास्मि, सोहमस्मि इत्यादि तत्त्वको जब पहुँचजावे तब वह सुख बुद्धिग्राह्य कहा जावेगा। प्रमाण श्रु०— "ॐ समाधि निर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत। न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।"

अर्थ—समाधि द्वारा चित्तके मलोंको दूर करके आत्मसुखमें प्रवेश करनेसे जो सुख प्राप्त होता है उसके आनन्दको शारदा भी

वर्णन नहीं करसकती केवल अपना ही अन्तःकरण जानता है। इसलिये उस सुखको भगवान‌्ने बुद्धिग्राह्य कहा है। इसी कारण गायत्री जपते समय "धियो यो नः प्रचोदयात" कहकर परमात्मासे शुद्ध बुद्धिकी प्रार्थना करते हैं और इसी प्रकार श्रुति भी प्रार्थना करती है, कि "सन्नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु" सो भगवान् मेरेको शुद्धबुद्धिके साथ मिलादेवें।

इस श्लोकमें भगवान‌्ने जो बुद्धिग्राह्य शब्दका प्रयोग किया है तिसकी व्याख्या यहांतक समाप्त हुई। अब "अतीन्द्रिय" शब्दकी व्याख्या आरंभ होती है। सो सुनो! "अतीन्द्रिय" इन्द्रियां जहां नहीं पहुंचसकतीं उसे अतीन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियोंकी शक्तिसे जो परे हो अर्थात् जहांतक इन्द्रियां अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेकी पूर्णशक्ति रखती हैं तहांसे जो परे हो। सर्वसाधारण प्राणी जानते हैं, कि शरीरमें जो भिन्न-भिन्न इन्द्रियां हैं वे अपने विषयको जहां पाती हैं तहां उस विषयके साथ ऐसी चिपटजाती हैं, कि उसे नहीं छोडतीं। वह विषय जहांतक वृद्धिपानेको समर्थ होता है तहांतक इन्द्रिय उसके साथ जाती है। पर यह भी निश्चित है, कि जितने विषय हैं सबोंका अन्त है। इसलिये उनका सुख भी अन्त पाता है। इसीकारण जैसे विषय-सुख अन्तवाले हैं तैसे इन्द्रियां भी अन्तवाली है। फिर जो वस्तु अन्तवाली हो उसे अल्प कहते हैं। अतएव इस विषय-सुखको श्रुतिने भी अल्प कहा है और आत्मसुख तथा ब्रह्मसुखको भूमा (बहुत बडा) नित्य और एकरस कहा है। "श्रु०— ॐयो वै भूमा तत्सुखं। नाल्पे सुखमस्ति।

अर्थ— जो सूक्ष्म है वही सुख है और एकरस है इसी कारण इन्द्रियोंका वहां गम नहीं है । क्योंकि इन्द्रियां केवल विषयसुखको अनुभव करनेवाली हैं ब्रह्मसुखको नहीं जानतीं । इसीलिये लज्जित होकर रहजाती हैं । प्रमाण श्रुतिः— " ॐ यद्वाचानाभ्युदितम् " " यन्मनसा न मनुते " " यच्चक्षुषा न पश्यति " " यच्छ्रोत्रेण न शृणोति " " तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि " इत्यादि (केनोप० सं० ५, ६, ७ में देखो) इन श्रुतियोंसे सिद्ध है, कि ब्रह्म तथा ब्रह्मसुख वचनसे नहीं बोला जासकता, मनसे मनन नहीं किया जासकता और कानोंसे नहीं श्रवण किया जासकता । जो ऐसा है उसीको ब्रह्म वा ब्रह्मसुख जान! इससे सिद्ध होता है, कि वह ब्रह्म वा ब्रह्मसुख इन्द्रियोंसे परे है ।

शंका— जितने पदार्थ हैं सब इन्द्रियोंद्वारा अनुभव कियेजाते हैं । जितने सुख हैं इन्द्रियों द्वारा ही भोगेजाते हैं इसलिये ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा, कि जो सुख इन इन्द्रियोंसे परे है वह है ही नहीं । ऐसे सुखको बाधित–न्यायसे स्वीकारे ही नहीं करना चाहिये । क्योंकि " उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितं याचयेदिति बाधितन्यायः " ।

अर्थ— जो वस्तु नेत्रोंके सामने उपस्थित है उसे छोड किसी अन्य अर्थका स्वीकार करना बाधितन्याय है। इसी कारण जो सुख इन्द्रियों द्वारा भोगाजाता है और इन्द्रियोंके सम्मुख उपस्थित है उसे छोड अन्य किसी सुखका कहना नहीं बनता। इसलिये कहना पडेगा, कि ब्रह्मसुख कोई है ही नहीं ।

समाधान— ऐसा मत कहो ! और ऐसा मत समझो, कि इन इन्द्रियों ही द्वारा जो जानाजावे और भोगाजावे वही सुख है। ऐसा समझना नितान्त भूल है। देखो! ये इन्द्रयां स्वयं स्वरूपतः जड हैं, इनमें स्वयं देखने, सुनने वा जाननेकी कुछभी शक्ति नहीं है। इनको सदा चैतन्य आत्मासे ये शक्तियां मिलती हैं। आत्मा ही की चेतनताका बिम्ब इनपर पडरहा है। यह आत्मा ही आंखकी भीआंख है कानका भी कान है। सुनो! प्रमाण श्रु०— " ॐ श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचँ स उ प्राणस्य प्राणः............ ।

(केन० खं० १ श्रु० २ में देखो)

अर्थ— यह चैतन्य निर्मल आत्मा कानका भी कान है, मनका भी मन है, वचनका भी वचन है और यही प्राणका भी प्राण है इत्यादि इत्यादि ।

जैसे दश पहलवाले लालटेनमें एकही बत्ती लाल काचकी ओर लाल, काले काचकी ओर काला और पीलेकी ओर पीला प्रकाश करती है इसी प्रकार यह आत्मा भी शरीरके लालटेन (Lantern) में आंख; कान, नाक, जिह्वा इत्यादि भिन्न-भिन्न काचोंकी ओर भिन्न-भिन्न प्रकाश देरहा है। जिसकी चैतन्य शक्तिका बिम्ब पाकर इन्द्रियां सुख इत्यादि भोगनेमें समर्थ होती हैं। फिर केवल जिसकी शक्तिकी छाया वा बिम्बमात्रसे ही इन्द्रियां विषयसुख भोगनेको समर्थ होती हैं तो क्या स्वयम् तिस परम शक्तिमान् आत्मामें उस परमसुखके भोगनेकी सामर्थ्य नहीं होगी? और अपने दिव्यबोधसे उस परमसुखको नहीं जानेगा, कि

इससे परे कोई पूर्ण ब्रह्मसुख भी है या नहीं। इसलिये ऐसा मत कहो, कि ब्रह्मसुख है ही नहीं। तुमको झकमारकर अवश्य कहना पडेगा, कि इस विषयसुखसे परे कोई ब्रह्मसुख भी है और पूर्ण है। जिसको श्रुतियोंने भूमा कहा है अर्थात् सर्वव्यापक, बहुत और अविनाशी कहा है। इसी कारण भगवान इस ब्रह्मसुखको अतीन्द्रिय कहरहे हैं। शंका मत करो!

शंका— जब आत्माही की शक्तिसे ये इन्द्रियां शक्तिमान् हैं तो जैसे आत्माद्वारा ब्रह्मसुखका अनुभव होता है इनके द्वारा भी अनुभव होना चाहिये। फिर आत्मसुखको भगवानने अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंसे परे) क्यों कहा ?

समाधान— सुनो! देखो यह जो आकाशमें पीयूषपिण्ड (चन्द्रमा) है इसे अपना प्रकाश नहीं है सूर्य्यके प्रकाशका बिम्ब इस पर पडता है जिससे यह प्रकाशमान् होकर पृथ्वीको प्रकाशित करता है। पर इस प्रकाशमें इतनी शक्ति नहीं है, कि रात्रिके अन्धकारको नाशकरके दिनके समान सर्वत्र उजियाला करदेवे। केवल सूर्य्य ही का प्रकाश रात्रिको नाशकर दिन बनादेनेमें समर्थ है। इसलिये यह कहना पडेगा, कि यद्यपि सूर्य्य ही से चन्द्रमें प्रकाश आता है तथापि सूर्य्यके प्रकाशकी समता चन्द्र तीन कालमें भी नहीं करसकता। अतएव यों अवश्य कहना पडेगा, कि सूर्य्यका प्रकाश अतिचन्द्र है अर्थात् चन्द्रमाकी शक्तिसे परे है। इसी प्रकार यद्यपि आत्माहीके प्रकाशसे इन्द्रियां प्रकाशित हैं तथापि यही कहना पडेगा, कि ब्रह्म-

सुखं अतीन्द्रिय है । इन्द्रियां वहांतक पहुंचनेको समर्थ नहीं । शंका मतकरो ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि विषयजन्यसुख अल्प है और आत्मसुख भूमा है अर्थात् अनन्त, व्यापक और सबोंमें विशाल तथा यथार्थ सुख है, इसी परमसुखके निमित्त नारदने जब सनत्कुमारके समीप जाकर जिज्ञासा की है तब सनत्कुमारने उत्तर दिया है, कि श्रुतिः– " ॐ सुखं त्वेवविजिज्ञासितव्य इति " तुमको सुखकी जिज्ञासा करनी चाहिये। तब नारदने कहा, कि " ॐ भूमानं भगवो विजिज्ञास इति " हे भगवन्‌ सनत्कुमार ! मैं भूमा अर्थात् परम सुखकी ही जिज्ञासा करता हूं सो आप मुझे परम-सुखस्वरूपका उपदेश कीजिये । तब सनत्कुमारने कहा– " यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् " (छां० प्रपा० ७ खं० २३ में देखो) अर्थ–जो भूमा अर्थात् पूर्ण ब्रह्मसुख है वही परम सुख है जिससे अतिशय अन्य कुछ भी नहीं। सो ही भूमा सबसे श्रेष्ठ निरतिशय तथा परमानन्दसुख है । इससे जो अन्य है अल्प है और तुच्छ है। क्योंकि जो अल्प होता है उसीमें तृष्णा बनी रहती है। जैसे किसी अधिक पिपासावालेकी प्यासकी शान्ति थोडे जलसे नहीं होसकती वरु वह जल भी उसके शरीरमें जाकर जलजाता है । इसी प्रकार विषय-सुख अल्प होनेके कारण तृष्णाको भी बढाता है और आप भी नष्ट होजाता है। पर जो भूमा है वह पूर्ण है अर्थात् तहां तृष्णा जो दुःखका कारण है वह शेष नहीं रहती और सुख लाभ करनेवालेको भी पूर्ण सन्तोष होजाताहै । अर्थात् निरतिशय आनन्दको प्राप्त होजाता है। तिसका कारण यही है, कि जो परब्रह्मसुख है सो सब

विषय-सुखोंका भी अधिष्ठान है। जहांसे ये विषयसुख अल्प होकर निकलते हैं। जैसे किसी मिट्टीके पात्रको समुद्रमें डुबा दो तो वह सदा भीगा रहेगा, पर समुद्रसे उस पात्रमें थोडा जल निकाल कर बाहर रखदो तो वह जल कुछ कालके पश्चात् सूखजावेगा और वह पात्र भी शून्य पडा रहेगा। इसी प्रकार जिसने अपने अन्त:करणको (भूमा) परिपूर्ण आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द तथा भगवत्स्वरूपके आनन्दसागरमें डुबा रक्खा है वह कभी आनन्द रहित नहीं होसकता। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि जिस अवस्थामें योगीको यह भूमा-स्वरूप-सुख का लाभ होता है जिससे परे दूसरा कोई सुख नहीं है और जब योगी सर्व प्रकारके विषय-सुखोंकी तृष्णासे रहित होकर अन्य सब सुखोंको तुच्छ जानकर इस ब्रह्मानन्द सुखको जो आत्यन्तिक है, बुद्धिग्राह्य है और अतीन्द्रिय है जानलेता है तब इस सुखको सबसे अधिक मानने लगता है। और तब वह योगी यथार्थ योगतत्त्वको प्राप्त होनेवाला कहाजाता है। इसी अवस्थाको योगशब्दवाच्य कहना चाहिये। भगवान्‌ने योगका यह तीसरा लक्षण वर्णन किया।

अब श्री वृन्दाबनबिहारी मदनमुरारी कहते हैं, कि [**यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वत:**] अर्थात् जिस अवस्थामें अवस्थित होनेसे फिर अपने तत्त्वसे योगी चलायमान् नहीं होता। * नवों प्रकारके

* १. व्याधि (रोग) २. स्त्यान (इच्छा होने पर भी कर्म करने को समर्थ न होना, ३. संशय (यह वस्तु है वा नहीं है इसके बीचमें चित्तका पडा रहना ४. प्रमाद (योगके अंगोंके अनुष्ठान करनेमें सावधानता न रहनी) ५.

अन्तराय जो योगियोंकेलिये विघ्नकारक हैं, उनके सम्मुख उपस्थित होनेपर भी जो सर्व प्रकार स्थिर रहता है "यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः। अनिंगनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा" (गौड-पादीयका० प्र० ३ श्लोक ४६)

अर्थ— जब योगीका चित्त अपने तत्वमें इस प्रकार स्थितहोजावे, कि लय और विक्षेपके उपद्रवोंसे दायें-बायें नहीं हिले। 'अनिंगन' अर्थात् निवातस्थ-दीपशिखाके समान अडोल रहे और 'अनाभास' अर्थात् फिर समाधिसे व्युत्थानकालमें नहीं भासे तब जानना चाहिये, कि योगी ब्रह्मस्वरूपमें सम्पन्न हुआ और योगभूमिकाको प्राप्त होगया। यह योगका चौथा लक्षण है।

अब भगवान् कहते हैं, कि [यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः] अर्थात् जिस चित्तवृत्ति-निरोधरूप अखण्ड निर्विकल्प (असंप्रज्ञात) समाधिको लाभ करके अन्य किसी प्रकारके लाभको अधिक नहीं मानता है तब जानना चहिये, कि यह योगी योगतत्वको प्राप्त होगया। प्रमाण श्रु०— "यस्मात्परं नापर-

---

आलस्य (शरीरकी गुरुतासे योगानुष्ठानमें चित्तका न लगना) ६. अविरति (विषयकी तृष्णाका न छूटना) ७. भ्रान्ति भूल (कुछ औरको और समझना) ८. अलब्धभूमिकत्व (समाधिमें चित्तका स्थिर न होना) ९. अनवस्थितत्व (समाधि भूमिकाके लाभ करनेमें चित्तका स्थिर न होना) ये नवों प्रकारके उपद्रव योगियोंके योगमें बाधा करते हैं।

मस्ति किंचित् " (श्वेताश्वतर० अ० ३ श्रु० ६में देखो) अर्थात् जिससे परे दूसरा कुछ नहीं है वही परम लाभ है। " कृत्यं कृतं प्राप्तं प्रापणीयमित्यात्मलाभान्न परं विद्यते " इस स्मृतिके वचनानुसार आत्मलाभसे बढकर कोई दूसरा लाभ नहीं है जिससे प्राणी कृतकृत्य होवे और जो लाभ 'प्राप्तप्रापणीय' कहा जावे । तहां कृतकृत्य तो उसे कहते हैं, कि जहांतक जितने लाभ हैं सबोंसे बढकर लाभ उठावे जिसकी प्राप्तिके निमित्त फिर उसे कुछ करना न हो और प्राप्त आपणीय उस प्राणीको कहते हैं जिसने अनेक यत्नों करके सुख-समूहको एक ही बार प्राप्त किया हो।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जिस लाभको लाभकरके फिरे किसी अन्य लाभका लोभ नहो सोही केवल आत्मसुख है। क्योंकि इन्द्रलोक, वृहस्पतिलोक प्रजापति इत्यादि लोकोंके जो लाभ हैं वे सविकार और दूषित कहेगये हैं । क्योंकि किसी लोकमें ईर्षा, किसीमें अहंकार तथा उनसे नीचे गिरनेका भय है इसलिये ये सब लाभ आत्मसुख-लाभसे नीचे ही हैं । अतएव भगवान् कहते हैं, कि जब योगीको ऐसा बोध होजाता है, कि इस आत्मलाभसे अधिक कोई दूसरा लाभ नहीं है तब जानना चाहिये कि इसे योग तत्त्वका बोध होगया है और तबही उसे यथार्थ योगशब्दवाच्य कहना चाहिये। भगवान्ने योगका यह पांचवां लक्षण वर्णन किया ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते] जिस अवस्थामें स्थित होकर महान्

दुःखके प्राप्त होनेपर भी चंचल नहीं होता अर्थात् नाना प्रकारके जो शारीरिक क्लेश हैं उनके उपस्थित होनेपर भी अपने अनुष्ठानको जब योगी नहीं छोडता है तब जानना चाहिये, कि इसे योगतत्त्व प्राप्त होचुका है ।

यहां केवल शारीरिक क्लेशमात्र कहनेका कारण यह है, किभगवान् केवल एकाकी अर्थात् एकान्तवासी योगीकी दशा वर्णन कररहे हैं। ऐसे एकाकीको पुत्र, कलत्रादि कुटुम्बियोंके वियोगका अथवा धन, सम्पत्ति इत्यादिके विनशजानेका दुःख घेर ही नहीं सकता, केवल शरीर-मात्र ही रहता है। इसलिये यहां केवल शारीरिक दुःखसे ही तात्पर्य्य है ।

शंका— योगीको तो नाना प्रकारकी अद्भुत सिद्धियां लाभ होजाती हैं । इच्छामात्रसे जो चाहे करसकता है, तो क्या वह अपने शारीरिक दुःखोंके टालनेमें समर्थ नहीं होसकता ?

समाधान— जितने पूर्वार्जितकर्म भोगनेकेलिये इस वर्तमान जन्ममें उदय होचुके हैं जिनको प्रारब्धके नामसे भी पुकारते हैं उनको तो अवश्य भोगलेना ही कल्याणकारक है । क्योंकि प्रारब्धका नाश भोगसे इतर अन्य किसी उपायसे नहीं होसकता । यद्यपि योगी अपने योगबलसे प्रारब्धके हटादेनेमें समर्थ है, पर जब वह इस वर्त्तमान शरीरसे हटादेवेगा तो फिर उसे भोगनेकेलिये दूसरा शरीर अवश्य धारण करना पडेगा जो योगियोंकेलिये अत्यन्त दुःखदायी है । प्रमाण श्रु०— " रसाच्छोणितं शोणितान्मांसं मांसान्मेदो मेदसः स्नायवः स्नायु-

भ्योऽस्थीन्यस्थिभ्यो मज्जा मज्जातः शुक्रं शुक्रशोणितसंयोगादावर्त्तते गर्भः ” (गर्भोपनिषत् श्रु० २ में देखो)

अर्थ— अन्नके रसोंसे रुधिर, रुधिरसे मांस, मांससे मेद (चर्बी) मेदसे स्नावा (शिरा) स्नावासे हड्डी, हड्डीसे मज्जा, मज्जासे बीज फिर बीज और रजके मिलनेसे गर्भ तयार होता है। अब बुद्धिमान् विचार सकता है, कि यह शरीर कैसी घृणा करने योग्य वस्तु है ? इस कारण योगी दूसरे शरीरके ग्रहणकी इच्छा न करके शारीरिक दुःखको इसी शरीरमें भोगलेता है। उसके नाश करनेके लिये सिद्धिका बल नहीं दिखलाता। शंका मतकरो!

अब भगवानका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि “ दुःखेन गुरुणाऽपि ” जब योगी प्रारब्धानुसार किसी प्रकारके घोर दुःखके उपस्थित होनेपर भी व्याकुल नहीं होता तब जानना चाहिये, कि यह यथार्थ योगभूमिको प्राप्त करचुका। यह योगका छठवां लक्षण है॥

भगवानने जो २०, २१ और २२ श्लोकोंमें योगके ६ लक्षण भिन्न-भिन्न ६ वाक्योंमें दिखलाआये हैं अर्थात् १. जब योगानुष्ठानसे चित्तको संसारसे उपराम होजावे। २. जब अपने आत्मा द्वारा आपही अपने आत्मामें सन्तुष्ट होजावे। ३. जब अतिशय बुद्धिग्राह्य और अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंसे परे) सुखको प्राप्त होजावे। ४. जब स्थिर होजानेसे अपने योगतत्त्वसे चलायमान न हो। ५. जब सबसे परे लाभको प्राप्तकर किसी दूसरे प्रकारके लाभको अधिक न माने। ६. जब किसी घोर दैहिक तापसे व्याकुल न हो

इन हीं छवों लक्षणोंसे युक्त अवस्थाको कौनसे नामसे पुकारना चाहिये भगवान् अर्जुनके प्रति कहते है, कि [तं विद्याद्दु:ख-संयोगवियोगं योगसंज्ञितम्] तब उसी विशेष अवस्थाको योगसंज्ञित अर्थात् योगशब्दवाच्य कहना चाहिये । अभिप्राय यह है, कि योग शब्द जिसका वाचक है सो यही अवस्था है । वह योग कैसा है ? कि दु:खसंयोगवियोगवाला है अर्थात् दु:खका संयोग जो भिन्न–भिन्न योनियोंसे स्पर्श होना, तिसे दु:खसंयोगका सदा-केलिये वियोग करादेनेवाला है अर्थात् आवागमनका दु:ख एकबारगी छुडादेनेवाला है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि जो योग इस प्रकारका है जिससे पूर्व कथन कीहुई उपरामादि भिन्न अवस्थाओंकी प्राप्ति चित्तको होती है [स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा] ऐसे योगको निश्चय करके अनिर्विण्ण (निर्वेद रहित) चित्तसे अनुष्ठान करना चाहिये । अनिर्विण्ण उस चित्तको कहते हैं जो निर्वेद रहित हो अर्थात् ऐसा पुरुषार्थी चित्त हो, कि कठिनसे भी कठिन कार्य के सम्पादन करनेमें तत्पर होजावे । उसकी कठिनताको देखकर पूर्ति करनेमें निराश न हो । उस कार्यसे मुंह न मोडे अर्थात् करते-करते थककर न छोडदेवे, उसमें लगाही रहे। अभिप्राय यह है, कि ऐसा विचारता रहे, कि कभी न कभी इस कार्यको मैं अवश्य ही पूर्ण करूंगा । बहुतेरे योग-क्रिया साधन करनेवाले ऐसा विचारने लगजाते हैं, कि यम, नियमादिका प्रतिपाल करना, पथ्या-पथ्यके विचारानुकूल भोजनादि करना, मिताहारी होकर रहना, इन्द्रि-

योंको वशीभूत करना, विषयोंको त्यागना, दुःख, सुख, शीत, उष्ण मान और अपमानमें सम रहना, नित्य प्रातःकाल उठकर क्रियामें तत्पर होना, आसनोंका लगाना, मुद्रा इत्यादिका साधन करना, तथा प्राणायाम करते समय बासना रहित होकर ईडा और पिंगला द्वारा श्वास को चढाना और उतारना इत्यादि जो अत्यन्त कठिन साधन हैं वे शीघ्र सिद्ध नहीं होते । इसलिये चलो भाई ! छोडदो इन बखेडोंमें कौन पडे ?

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! ऐसा डरपोक बनकर ध्यान-योगको जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है त्याग न देवे वरु ऐसा विचारे, कि इस जन्ममें सिद्ध हो वा न हो अगले जन्मोंमें कहीं न कहीं तो जाकर सिद्ध होहीगा। जहां तक सम्भव हो इसमें लगे ही रहो ! ऐसे दृढ अन्तःकरणवालेको अनिर्विरणचित्त कहते हैं । हे अर्जुन ! ऐसे अनिर्विरण-चित्तवालेको अपने अनुष्ठानमें दृढ देखकर मैं स्वयम् उसकी सहायता करता हूं । इसलिये ऐसा योग अवश्य योक्तव्य है अर्थात् करनेके ही योग्य है ।

निर्विरणचेतस होकर दृढतासे योगसाधनमें स्थिर रहनेके विषय श्री स्वामी गौडपादाचार्यजी अपनी कारिकाके तीसरे प्रकरणके ४१वें श्लोकमें कहते हैं, कि " उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकविन्दुना मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः " ॥

अर्थ— जैसे एक कुशाके अग्रभागके बराबर जल—बिन्दुको अपने चोंच द्वारा समुद्रसे बाहर फेंकनेमें सम्पूर्ण समुद्रके उत्सेक

अर्थात् (उलीचडालनेकी) दृढ प्रतिज्ञा एक टिट्टिभ नाम पक्षीको होगयी और उसके मनमें निश्चय होगया, कि मैं इस समुद्रको सुखा डालूंगा। इसी प्रकार परिखेद रहित चित्तके दृढ प्रतिज्ञ होनेसे अवश्य योग सिद्ध होजाता है और भगवत्स्वरूपकी (साकार हो वा निराकार) प्राप्ति होती है। इस टिट्टिभ पक्षीका वर्णन आत्मपुराण के एकादश अध्याय में यों किया है, कि " एक टिट्टिभ पक्षी किसी समुद्रके तटमें निवास करता था उसके अंडोंको समुद्र अकस्मात् भाठा ज्वार द्वारा बहालेगया तब उस पक्षीको क्रोध उत्पन्न हुआ और उसने यों प्रतिज्ञा की— मैं इस समुद्रके जलको बाहर फेंककर इसे सुखा ही दूंगा। ऐसा निश्चय करके अपने चोंचसे जल निकाल-निकाल बाहर फेंकना आरम्भ किया। तब उसकी जातिके पक्षियोंने समझाया, कि तू क्यों व्यर्थ मरता है तुझसे यह समुद्र नहीं सूख सकता। पर उसने उनका एक भी न माना और कहा, कि मैं अपने नोलसे इसी प्रकार विन्दु मात्र जल निकालते-निकालते किसीन किसी दिन अवश्य इस समुद्रको सुखादूंगा। अकस्मात महर्षि श्री नारद उस मार्ग होकर आनिकले और उसकी दशा देख उसे बहुत समझाया पर उसने उनकी भी न मानी और बोला, कि भगवन्! एक जन्मको कौन पूछे यदि लक्ष जन्ममें भी यह समुद्र सूखेगा तो मैं अवश्य इसे सुखाकर ही छोडूंगा। नारदजी उस पक्षीकी ऐसी अनिर्विण्णता देख प्रसन्न हुए। झट गरुडसे जाकर टिट्टिभ पक्षीका सर्व वृत्तान्त कह सुनाया और बोले, कि हे गरुड! समुद्र आजकल ऐसा अभिमानी होगया है, कि तुम्हारी जातिसे अर्थात् पक्षियोंसे विरोध

रखता है । इतना सुन गरुडको क्रोध आया और वहां पहुंच अपने पत्तोंकी वायुके वेगसे समुद्रके जलको शुष्क करना आरम्भ करदिया। यह देख समुद्रको भय हुआ, कि गरुड विष्णु-भक्त है, महात्मा है यह तो इच्छामात्रसे मुझे ऐसे शुष्क कर सकता है जैसे अगस्त्यने मुझे पान करलिया था । एवम्प्रकार भयभीत हो समुद्रने पत्तीके अण्डों को तीरपर फेंकदिया ।

इस दृष्टान्तसे मुख्य तात्पर्य यह है, कि जो प्राणी भगवत्स्व-रूपकी प्राप्ति निमित्त योगके अनुष्ठानमें लगपडेगा और टिट्टिभ पत्ती के समान दृढ प्रतिज्ञ और दृढव्रत होगा वह अवश्य अपने योगकी सिद्धि लाभ करेगा और उसकी पूर्तिमें भगवत् स्वयं उसकी सहायता करेंगे । क्योंकि भगवान् पहले कहआये हैं, कि " योगक्षेमम्वहा-म्यहम् " मैं ही योगक्षेमका देनेवाला हूं अर्थात् वस्तुकी प्राप्ति मैं ही कराता हूं । फिर उस प्राप्त वस्तुकी रक्षा भी मैं ही करता हूं । इसलिये भगवान् अपने श्रीमुखसे आज्ञा देते हैं, कि हे अर्जुन ! "निश्चयेन योक्तव्यः" ऐसा योग निश्चय करके अनिर्विण्ण-चित्तसे अनुष्ठान करने योग्य है ॥ २०, २१, २२, २३ * ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा,— भगवन् ! चित्तकी अनिर्विण्णता किस उपायसे प्राप्त होती है ? कृपा कर कहो !

* अनिर्विण्णः— (निर् + विद् + क्तः, ततो नञ् समासः ।)
अर्थ— निर्वेदशून्यः, अश्रान्तः, निर्ग्लानिः, विगत क्लेशः इत्यादि अनिर्विण्ण शब्दके अर्थ हैं ।

भगवान् बोले अर्जुन! सुन—

मू०— संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
॥ २४, २५ ॥

पदच्छेदः— सर्वान् (ब्रह्मलोकपर्य्यन्तान् सम्पूर्णान्) संकल्पप्रभवान् (संकल्पात् तथाऽविचारजनितेऽशोभने शोभनाध्यासात् प्रभवो येषां तान्) कामान् (विषयाभिलाषान्) अशेषतः (निर्विशेषतः) त्यक्त्वा (श्ववान्तपायसवत्परित्यज्य) मनसा (अन्तःकरणेन) एव, इन्द्रियग्रामम् (इन्द्रियसमुदायम् चक्षुरादिकरणसमूहम्) समन्ततः (सर्वेभ्यो विषयेभ्यः आसमन्तात् भागे । विषयसमूहात्) विनियम्य (नियमनं कृत्वा । प्रत्याहृत्य) धृतिगृहीतया (धैर्य्येण युक्तया) बुद्ध्या (निश्चयवृत्त्या) शनैः शनैः (भूमिकाजयक्रमेण मन्दम्मन्दम्) उपरमेत् (उपरतिं सम्पादयेत् । स्वरूपसमीपे प्रीतिं सम्पादयेत् [तथा] मनः (अन्तःकरणम्) आत्मसंस्थम् (आत्मनि संस्थं युक्तम्) कृत्वा, किंचित् (स्वल्पम्) अपि, न चिन्तयेत् (न विचारयेत्) ॥ २४, २५ ॥

पदार्थः— (सर्वान्) सर्वप्रकारके (संकल्पप्रभवान्) संकल्पोंसे उत्पन्न (कामान्) कामनाओंको (अशेषतः) पूर्ण-

रूपसे (त्यक्त्वा) त्यागकरके तथा (मनसा, एव) मनसे ही (इन्द्रियग्रामम्) इन्द्रिय समुदायको (समन्ततः) सर्व विषयोंकी ओरसे समेट (विनियम्य) विशेषकर अपने-अपने नियम में रखकर (धृतिगृहीतया) धैर्य्यसे युक्त (बुद्ध्या) बुद्धिद्वारा (शनैः शनैः) धीरे-धीरे (उपरमेत्) उपरामको प्राप्त होवे। तथा (मनः) मनको (आत्मसंस्थम्) आत्मामें स्थिर (कृत्वा) करके (किंचिदपि) किसी प्रकारकी कुछ भी (न, चिन्तयेत्) चिन्ता न करे ॥ २४, २५ ॥

भावार्थः— श्री योगेश्वर भगवान् अर्जुनके प्रश्नको सुन चित्तकी अनिर्विण्णताकी प्राप्तिका साधन वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि प्राणीको चाहिये, कि जब योगतत्त्वका अनुष्ठान आरम्भ करे तब सबसे पहले [**संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वानशेषतः**] संकल्पसे उत्पन्न पातालसे ब्रह्म-लोक पर्यन्तकी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्णरूप त्याग कर धीरे-धीरे शान्त-चित्त होवे।

प्राणीका स्वभाव है, कि बार-बारे नाना प्रकारके संकल्पोंसे अपनी कामनाओंको दृढ करलेता है। अर्थात् पहले प्राणीके चित्त में किसी विषयकी स्मृति होआती है। जैसे १. हेतु, २. फल, ३. आश्रय और ४. अवलम्बन (जिनका वर्णन इसी अध्यायके श्लोक १६ में होचुका है) इन चारोंके उपस्थित होनेसे जो विषय-सुखके भोगनेकी इच्छाएँ उपज आती हैं उन्हींको "संकल्पप्रभवान् कामान्" कहते हैं। अर्थात् मनमें जो प्रबल तरंगें उठती हैं, कि

यह सुख मुझे प्राप्त हो, एवम्प्रकार विषय-सुखके परिणाम दुःखको भूल विषयकी सुन्दरता और शोभाकी ओर दौडजाता है। बारम्बार यही आशा करने लगजाता है, कि यह धन, सम्पत्ति, यह सुन्दर स्त्री तथा स्वर्गलोककी अप्सराएँ मुझे प्राप्त होजावें। इसीको संकल्प कहते हैं। तिस संकल्पकी स्मृति अन्तःकरणपर जमनेसे कामना उत्पन्न होतीहुई वृद्धिको पाती चली जाती है। इसलिये कामनाएँ संकल्पज कहलाती हैं। विषयियोंकेलिये सब सुखोंमें अत्यन्त सुखदायी स्त्रीसुख है; तिसका मुख्य कारण कामदेव है, कामदेवकी उत्पत्ति केवल संकल्पसे हुई है और होती है इसी कारण कामदेवको संकल्पज, संकल्पमय, संकल्पयोनि इत्यादि नामोंसे पुकारते हैं। इसी कारण अन्य सब कामनाएँ भी सदा संकल्पज ही होती हैं। इस संकल्पके पीछे-पीछे मन चलता है तहां श्रुतिका वचन है, कि "संकल्पो वाव मनसो भूयान्" अर्थात् संकल्प मनसे श्रेष्ठ है। तात्पर्य्य यह है, कि कर्तृत्वसम्बन्धी अन्तःकरणकी वृत्तिको संकल्प कहते हैं। तिसके पश्चात् मनका वेग आरंभ होता है। जैसे पहले वायुकी झकोडें चलती हैं तब बडे-बडे नद नदियोंमें तरंगें उठने लगजाती हैं इसी प्रकार संकल्प की वायुके प्रवाह होते ही मनमें विषयोंकी तरंगे उठने लगजाती हैं। जब एवम्प्रकार तरंगे उठने लगीं तो शान्ति समीपमें नहीं रह सकती। जब शान्ति न हुई तो जैसे तरंग उठतेहुए जलमें अपने मुखकी आकृति स्वच्छ और सम नहीं देख पडती इसी प्रकार शान्ति–रहित चित्तमें अपना स्वरूप जो आत्मस्वरूप है स्वच्छ नहीं देख पडता। इसी कारण जब आत्माका दर्शन अर्थात् आत्मज्ञान स्वच्छ-रूपसे नहीं

लाभहुआ तो भगवत्प्राप्तिका आनन्द प्राप्त होना दुस्तर है अर्थात् निर्वेद रहित चित्तको योगकी सिद्धि द्वारा भगवत्स्वरूपकी प्राप्तिका लाभ नहीं होसकता । अतएव भगवान् कहते हैं, कि संकल्पसे उत्पन्न जितनी कामनाएँ हैं उनको त्याग करके योगी अपने चित्तको निर्वेदरहित करलेवे ।

शंका—अब यह है, कि उन कामनाओंका केवल थोडा अंश परित्याग करे अथवा जितनी कामनायें हैं उन सबोंको उनकी उत्पत्तिका कारण वासना इत्यादिके सहित पूर्णरूपसे त्याग करे ?

समाधान— इन विषयोंका संस्कारमात्र भी चित्तके किसी कोनेमें रहजानेसे जैसे कच्चे बीजसे फिर वृक्ष उदय होजाता है ऐसे फिर व्युत्थानकालमें विषय-रूप बहुत बडे वृक्षके फूटकर निकलनेका भय है । जैसे सूर्यकी किरणें पृथ्वीपर फैली हुई जलको शोषण करलेती हैं इसी प्रकार अपने योगरूप तेजसे योगी कामनाओंको शोषण करलेवे अर्थात् पूर्णप्रकार कामना रहित होजावे ।

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार सब कामनाओंको पूर्ण-रूपसे परित्याग करके तथा [मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः] मन द्वारा इन्द्रिय समुदायको चारों ओरसे नियममें लाकर और [शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया] परम धृति--युक्त बुद्धिके साथ धीरे-धीरे उपरामको प्राप्त हो अर्थात् शान्ति लाभ करे । नियमित रखनेका अर्थात् मन सहित इन्द्रियोंके नियममें करनेका तात्पर्य्य यही है, कि कर्तृत्वाभिमानशून्य होकर इनका संय-मकरे जिससे इनके कार्य्यमें न्यूनाधिक्य (कमी बेशी) न हो, समता

प्राप्त रहे और आप प्राणी सब कुछ करता हुआ भी बन्धनमें न पडे जैसा, कि भगवान् पहले अध्याय ५ में श्लोक ८ से १३ तक उपदेश करआये हैं उसी प्रकार संयम पूर्वक इन्द्रियोंसे सब कार्य्योंको करताहुआ " पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन् " अर्थात् देखता, सुनता और स्पर्श करता हुआ भी ऐसा समझे, कि " नैव किंचित् करोमि " मैं कुछ भी नहीं करता । प्रकृति उचित रीतिसे जिस आचरणके योग्य समझ कर जहां-जहां जो कर्म करवा देती है, इन्द्रियां प्रसन्नता पूर्वक करलेती हैं, मुझ यतचित्तात्माको न उनसे राग है न द्वेष है ।

भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि एवम्प्रकार जो योगी सब संकल्पज कामनाओंको त्यागकर मन सहित इन्द्रियोंका नियममें लाकर शनैः शनैः उपरामको प्राप्त होता है, उसीका चित्त अनिर्विरणत्वको प्राप्त होता है । यदि पूछो, कि केवल संसृत-व्यवहारोंमें संसृत-राग-द्वेषसे बहुतेरे विवेकी वा योगी तो नियम करलेते हैं परे बहुतोंको स्वर्गादि सुखोंकी तथा अणिमादि अष्ट सिद्धियोंकी अभिलाषा बनी रहती है तो इनसे भी मनको नियमन करना चाहिये वा नहीं ? इसीके उत्तरमें भगवानने " समन्ततः " शब्दका प्रयोग किया है । अर्थात् नीचेके संसृत-विषयोंसे लेकर ऊपर स्वर्गलोकादिके सुखों तकका त्याग करे । अष्ट सिद्धियोंकी ओर भी न देखे तब ही पूर्ण प्रकार नियमन करना कहा जावेगा । अर्थात् वशिष्ठअरुन्धती दर्शन न्याय से पहले अनेक प्रकारकी जो योग-भूमि हैं तिनके द्वारा क्रमशः भूमिजय करता चला जावे अर्थात् पहले यम नियम के पालनसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करे, फिर आसनसे शारीरिक

चंचलताको रोके, अन्नमयकोशको जय करे, प्राणायामके साधन द्वारा प्राणमयकोशको जय करे। पीछे प्रत्याहार द्वारा मनोमयकोश को जय करताहुआ धारणासे विज्ञानमयकोशका संयम करके, ध्यानसे आनन्दमयकोशको अपने हाथकर समाधिमें प्रवेश करे। तिसके अनन्तर सबीजसमाधि अर्थात् संप्रज्ञात समाधिको प्राप्त कर फिर तिस बीजको नष्ट करके त्रिपुटीको तोड, असंप्रज्ञातसमाधिको लाभ करे। एवम्प्रकार धीरे-धीरे उपरामको प्राप्त होनेसे स्वर्गादि सुख तथा अष्ट सिद्धियोंके सुखसे भी उपरामको प्राप्त होकर सब ओरसे नियमन होजानेसे अनिर्विण्णता अवश्य प्राप्त होजाती है। क्योंकि इन योग-भूमियोंकी जय एक बारगी एक ही बार एक ही समय नहीं होसक्ती अतएव धीरे-धीरे अभ्यास करे। पर इसके साथ इतना तो अवश्य होना चाहिये, कि चाहे घोरसे घोर आपत्ति क्यों न आजावे पर योगी अपने लक्ष्यसे न हटे। इसी कारण भगवान इस श्लोकमें कहते हैं, कि "धृतिगृहीतया बुद्ध्या" अर्थात् कैसी बुद्धिसे शनैःशनैः उपरामकी ओर चेष्टा करे? तो कहते हैं, कि धृतिगृहीत बुद्धिसे करे। अर्थात् सब प्रकारकी दृढतासे बुद्धिको स्थिर और दृढ करके धीरे-धीरे उपरामको प्राप्त होवे। इस धृतिगृहीत बुद्धिके उदाहरणके लिये पाठकोंको एक सुन्दर इतिहास सुनाता हूं—

महाराज युधिष्ठिरने महाभारत विजय करनेके पश्चात् अश्वमेध यज्ञका संकल्प करके जब अपने अश्वको दिग्विजयके लिये छोडा और उसकी रक्षाके निमित्त अर्जुन, बभ्रुवाहन, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नीलध्वज, वृषध्वज, हंसध्वज इत्यादि वीरोंको श्री कृष्ण भगवानके

साथ नियुक्त करदिया । अश्व सर्वत्र विजय पाताहुआ महाराज मोरध्वजकी राजधानी रत्ननगरके समीप जब पहुंचा तब मोरध्वजके पुत्र ताम्रध्वजने बडी वीरताके साथ उस अश्वको छीन लिया जिस कारण ताम्रध्वजके साथ पूर्वोक्त वीरोंको युद्ध करना पडा । ताम्रध्वजने उक्त वीरोंको रणमें मूर्च्छित करडाला और लडते-लडते अपनी युद्ध-कलासे अर्जुनको भी नाकोंदम करदिया तब अर्जुन व्याकुल हो श्यामसुन्दरसे बोला, कि भगवन् ! इस छोटेसे बालकमें इतनी बीरता कहांसे आई ? भगवानने उत्तर दिया, कि अर्जुन ! इसका पिता मोरध्वज अपने धर्ममें धृतिगृहीत-बुद्धि है और ऐसा धर्मात्मा है, कि किसी प्रकारका याचक उसके सम्मुख जाकर याचना करे उसे निराश नहीं करता, अवश्य उसकी अभिलाषा पूर्ण करदेता है । हे अर्जुन ! भिक्षुकोंकी याचनाकी पूर्त्ति करनेमें वह धृतिगृहीत-बुद्धि है । अर्जुनने कहा भगवन ! मैं उसे देखना चाहता हूं आप कृपा कर उसकी धृतिकी परीक्षा कर मुझे दिखाइये जिससे मेरेको सन्तोष हो । भगवानने कहा अच्छा चलो मेरे संग चलो इतना कह भगवानने एक बृद्ध तपस्वीका वेष बनाया और अर्जुनको चेला बना मोरध्वजके सामने पहुंचे और कहा, कि हे राजन् ! मैं तुम्हारे समीप कुछ भिक्षा निमित्त चला आता था मार्गमें इस व्याघ्रने इस मेरे चेलेको पकडलिया और भक्षण करजानेकी इच्छा की मैंने कहा इसके बदले मुझे खाले ! पर उसने कहा मैं वृद्ध तपस्वीको भक्षण नहीं करता । मैंने उससे कहा, कि कोई उपाय बतला जिससे इस बालककी जान बचे । उसने कहा मुझे भी शोक है, कि मैं तपस्वीके बालकको भक्षण करने चला

हूं क्या करूं २७ दिवसका भूखा हूं । हां ! इतना तो होसकता है, कि यदि कोई राजकुमार मिलजावे तो उसका मांस भक्षण कर सन्तुष्ट होजाऊँ । इसलिये हे राजन् ! यदि तू राजकुमार ताम्रध्वजको इस मेरे बालकके बदले देकर इसकी जान बचादे तो तेरा यश पृथ्वी-मण्डलपर अटल रहेगा । राजाने कहा भगवन् ! यदि इस बालकका प्राण बच-जावे तो आप अवश्य मेरा बालक व्याघ्रको देदीजिये । इतना सुन भगवान् बोले, कि इस व्याघ्रकी यह प्रतिज्ञा है, कि उस बालकके पिता माता अपने हाथोंसे उसे चीरकर दो टुकडे करदेवें "तो इसके दाहिने अंगको मैं भक्षण करूंगा । और बायां छोडदूंगा" इतना सुन राजाने कहा जो आज्ञा ! मैं महलमें बालकको लाने जाता हूं आप उस व्याघ्रको लेआइये । मोरध्वज अपनी रानीके समीप गया और सारा वृत्तान्त कहसुनाया । रानीने कहा भगवन्! आज इस मेरे गर्भ को धन्यवाद है जिससे मैंने ऐसा पुत्र उत्पन्न किया जो आज परोपकार में समर्पण होता है । पश्चात् माता पिता दोनों राजकुमार ताम्रध्वजके समीप जा उसे सारा वृत्तान्त कहसुनाया । ताम्रध्वजने कहा अहा ! आज मुझे इस मनुष्य-जन्म लेनेको धन्यवाद है, कि मैं आज तपस्वीके काज आऊंगा । हे तात ! मुझे शीघ्र उस तपस्वीके समीप ले चलिये और उस व्याघ्रको मेरे मांससे संतुष्ट कीजिये । ये तीनों बातें करते जबतक द्वारपर आये क्या देखते हैं, कि तपस्वी अपने बालक और व्याघ्रको संग लिये खडा है । तपस्वी-रूप भगवानने कहा, एक ओर राजा और एक ओर रानी आरा लेकर बालकको चीरें पर प्रतिज्ञा यह है, कि माता बालकके मुखको देखती रहे और तू भी रानीका मुख देखता रहे

फिरे बालकके सिरपर आरा चलता रहे । जब हाथमें आरा ले राजा और रानीने बालकके मस्तकपर आरा चलाया तपस्वी बोले, सुनो भाई ! एक प्रतिज्ञा और यह है, कि आरा धीरे-धीरे मत चलाओ ! और इस बातपर तुम तीनों ध्यान रक्खो, कि यदि किसीकी आंखसे आंसू बह पडेगा तो यह व्याघ्र मांसका भक्षण नहीं करेगा ।

जब आरा चलना आरंभहुआ तब केवल बच्चेकी बाईं आंखसे आंसू चला तपस्वीने कहा बसकरो ! बसकरो ! ! अब मेरा व्याघ्र इस मांसको भक्षण नहीं करता । राजकुमारने प्रार्थना की भगवन् ! अबतो मैं अपने पिताका वचन पालन करनेके निमित्त दो टुकडे होरहाहूं अब मेरा कौनसा पाप उदयहुआ जिससे आप मुझे त्याग रहे हैं ? तपस्वीने कहा देख ! तेरी बाईं आंखसे आंसू चलता है जो प्रतिज्ञाके विरुद्ध है । ताम्रध्वजने उत्तर दिया भगवन् ! मेरा बायां अंग इस कारण नहीं रोता है, कि उसे कष्ट हुआ वरु वह इसलिये रोता है, कि दायेंने क्या पुण्य किया था, कि ब्राह्मणके काम आरहा है और मैंने क्या पाप किया, कि श्याल, कागले और कूकरोंके आगे फेंक-दिया जाऊंगा ? इसलिये मेरी विनम्र प्रार्थना है, कि यह मेरा बायां अंग भी व्याघ्रको भक्षण करादियाजावे । इतना सुनतेही सबोंके रोंगटे खडे होआये । सबोंके नेत्रोंसे आंसू टपकने लगा । इस वचनसे मोहित होकर करुणासागर भी करुणासे भरगये और उसी क्षण आज्ञा दी, कि मत चीरो ! सम्पूर्ण शरीर व्याघ्रको भक्षण करादो ! जब व्याघ्रकी क्षुधा पूर्ण होगयी और ताम्रध्वज व्याघ्रके पेटमें चलागया । तब महाराज

मोरध्वजने प्रार्थना की—भगवन् ! अब तो आप दोनों भोजनकर मुझे सन्तुष्ट कीजिये । भगवान्ने कहा बहुत अच्छा ! जब भोजनका पात्र आया तब भगवान्ने कहा यह पात्र तबतक सरस और रुचिकर नहीं होगा जबतक एक ओर मैं, एक ओर यह मेरा चेला, एक ओर तू और एक ओर तेरा पुत्र ताम्रध्वज न बैठे और तब ही मैं भोजन करूंगा । तू अपने पुत्रको लेआ ! इतना सुन पहले तो मोरध्वजको आश्चर्य्य हुआ पर विचार करने लगा, कि तपस्वियोंका वचन प्रतिपालही करने योग्य है । दौड़ा-दौड़ा रनिवासमें चलागया । क्या देखता है, कि ताम्रध्वज शयन कररहा है । पूछा बेटा ! तू यहां कैसे आया ? ताम्रध्वजने कहा तात ! मुझको तो वही तपस्वी जो द्वारपर आये हैं गोदमें लेकर यहां सोलागये और कह गये, कि जब तेरा पिता लेने आवे तब तू उसकेसाथ चलाआना । पिताजी ! शीघ्रता कीजिये ! चलिये द्वारपर साधुका दर्शन करूं । मुझे तो ऐसा अनुभव होता है, कि वह साक्षात् भगवान् हैं । इतना कहते हुए पिता, पुत्र, दोनों जो द्वारपर आये तो क्या देखते हैं कि भगवान् श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द मोरमुकुट धारणकिये हाथमें मुरलीलिये गले बनमालडाले अर्जुनकेसाथ त्रिभंगी-रूपसे बंशी टेर रहे हैं देखते ही दोनो पिता-पुत्र चरणोंमें गिरे। भगवान्ने कहा " तुम लोगोंकी धृति देख मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ, सत्य है तुम्हारे समान धृतिगृहीतबुद्धिवाला सहस्रोंमें कोई एक देखनेमें आवेगा । मोरध्वज ! तू धन्य है तू मेरा सच्चा भक्त है । बरमांग क्या मांगता है ? " राजाने कहा भगवन् ! और क्या मांगूं प्रथम तो यह, कि आपके चरणकमलोंमें मेरी प्रीति बनीरहे और दूसरा यह,

कि जैसी परिज्ञा तुमने मेरी की ऐसी किसी औरकी न करना ! भगवान् एवमस्तु कह मन्द-मन्द मुसकरातेहुए अर्जुनके साथ अन्तर्द्धान होगये।

प्रिय पाठको ! इस दृष्टान्तसे मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि मोरध्वजके समान धृतिगृहीतबुद्धिवाला होनेसे प्राणी शीघ्र सिद्धिको प्राप्त होता है।

अब भगवान् कहते हैं,कि उक्त प्रकार योगानुष्ठानमें तत्पर होकर [आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्] मनको आत्माहीमें टिकाकर अर्थात् आठों याम आत्माहीको देखताहुआ, सुनताहुआ, मनन करताहुआ इत्यादि अभ्यासमें समयको बितावे। आत्माहीमें रति, तृप्ति और तुष्टिको प्राप्त करे। अपने दायें, बायें, ऊपर, नीचे, सर्वत्र आत्मही आत्माको फैलाहुआ जाने। आत्मासे भिन्न एक तृणमात्र भी न जाने। दुःख, सुख, हानि, लाभ, मान, अपमान, निन्दा और स्तुति सबको आत्मा ही आत्मा जाने, अनात्माका तो कहीं लेशमात्र भी नहीं समझे। प्रमाण श्रुतिः— " ॐ अथात आत्मादेश एव आत्मैव अधस्तादात्मोपरिष्ठादात्मा पश्चादात्मापरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्मा मिथुन आत्मानन्दः। स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति॥ " (छां० उ० प्रपा० ७ खं २५ श्रु० २)

अर्थ— अब यहां आत्म-संस्थाका उपदेश करते हैं, कि आत्मा ही नीचे है, ऊपर है आत्मा ही पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चारोंओरसे व्याप्त

है। सर्वत्र यह जो कुछ देखाजाता है अखण्ड परिपूर्ण आत्मा ही है। इससे इतर रंचकमात्र भी कुछ नहीं है। इस प्रकारसे जो प्राणी देखता है, श्रवण करता है, मनन करता है, तथा जानता है उसीको आत्मरति और आत्मक्रीडा अर्थात् आत्माके संग रमणकरनेका सौभाग्य प्राप्त है। उसीको आत्माके साथ मिथुन है (आत्माके संग मिलाप है) उसीको आत्मानन्द अर्थात् भगवत स्वरूपकी प्राप्तिका आनन्द लाभ है। वही स्वतंत्र चक्रवर्त्ती होता है। उसीको सब लोकोंमें इच्छानुसार सब कुछ प्राप्त करलेनेकी शक्ति होजाती है।

भगवान् कहते हैं, कि ऐसे आत्मामें रत रहनेवाले योगीजनको आत्मसंस्थ कहते हैं। ऐसा योगी सब ओरसे वृत्तिको हटा केवल आत्माहीमें लगा " न किंचिदपि चिंतयेत " किसी अन्य विषयकी चिन्ता कदापि न करे। क्योंकि आत्मासे भिन्न अनात्मवस्तुओंकी स्मृति समाधिस्थ-योगियोंकेलिये बिघ्नकारक है।

जैसे घटाकाशमें जल भरदेनेसे वह आकाश जलाकाश भासता है और तिस जलाकाशमें फिर दूसरा आकाश देखपडता है। इसी प्रकार अन्तःकरणमें बहुतेरी वृत्तियां उदय होकर निर्म्मल आत्माके साथ उपाधिरूप होकर भासती हैं। जैसे जल इत्यादि उपाधियोंको घडेसे निकाल बाहर फेंकदेनेसे केवल घटाकाश ही रहजाता है। इसी प्रकार नाना प्रकारकी वासनाओंको यत्न पूर्वक अन्तःकरणसे त्यागदेनेसे निर्म्मल स्वच्छ आत्मा ही आत्मा रहजाता है तब उसी अवस्थाको आत्मसंस्थ कहते हैं। इसी अभिप्रायसे भगवान् कहते हैं, कि

आत्म-विचार छोड योगी अन्य कुछ भी चिन्ता न करे । जब एव-म्प्रकार सब चिन्ता वर्जित हो केवल आत्माहीमें लगजानेका अभ्यास करेगा तब उसे वही अनिर्विरणाता प्राप्त होगी जिसको भगवान् पूर्व श्लोकमें वर्णन करआये हैं ॥ २४, २५ ॥

अब भगवान् इसी विषयको अधिक स्वच्छ कर अगले श्लोकमें कहतेहुए एकाग्रताका उपाय बताते हैं—

मू०— यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

पदच्छेदः— यतः यतः (यस्माद्यस्मान्निमित्तात) चंचलम् (स्वभावदोषाच्चपलम्) अस्थिरम् (शान्तिरहितम्) मनः, निश्चरति (वहिर्गत्वा समाधि विरोधिनीवृत्तिमुत्पादयति) ततस्ततः (तस्मात्तस्मान्निमित्तात) एतत् (मनः) नियम्य (प्रत्याहृत्य) आत्मनि (स्वस्वरूपे स्वप्रकाशपरमानन्दघने वा) एव वशम् (स्व प्रभुत्वम्) नयेत् (पर्यवस्थापयेत) ॥ २६ ॥

पदार्थः— (यतः यतः) जिन-जिन कारणोंसे यह (चंचलम्) स्वभावसे ही अत्यन्त चंचल और (अस्थिरम्) शान्तिरहित (मनः) मन (निश्चरति) अपने हाथसे बाहर निकलजाया करता है (ततः ततः) तिन-तिन कारणोंसे (एतत्) इस मनको (नियम्य) रोककर (आत्मनि) अपने स्वरूपके साथ जो स्वप्रकाश और परमानन्द घन है (एव) निश्चय करके (वशम्) वशमें (नयेत्) करले अर्थात् आत्मस्वरूपमें युक्त करदेवे ॥ २६ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें जो योगेश्वर भगवानने अर्जुनके प्रति योगियोंके उपरामके विषय यह कहा, कि "शनैः शनैः उपरमेत्" धीरे धीरे उपरामको प्राप्त हो। इसी विषयको अब इस श्लोकमें विशेष रूपसे वर्णन करते हैं अर्थात् चारों ओरकी उपाधियोंसे मनको रोक-लेनेका उपाय बतातेहुये कहते हैं, कि [यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्] यह मन जो स्वाभाविक पारदके समान चञ्चल है और अस्थिर है अर्थात् स्थिर नहीं रहता, वह जिन-जिन कारणोंको पाकर अपने स्थानसे निकलजाया करता है अर्थात् महा बलवती इन्द्रियों द्वारा मोक्षमार्गसे भागजाया करता है। इन्द्रियां जहां जिस प्रकारका अवलम्बन पाकर इसे खींचलिया करती हैं तहां तदाकार हो उसीमें रमण करने लगजाता है। पांचों प्रकारकी वृत्तियां जब-जब जिधरसे इसे चंचल करती हैं उधर ही उलझजाया करता है। इन वृत्तियोंके उदय रहते नाना प्रकारकी कामनाएँ सताती रहती हैं।

इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि यह मन जिस-जिस निमित्तसे चंचलत्वको प्राप्त होने लगे उस-उस निमित्तको योगी झट उसी समय अपनी कुशाग्र बुद्धिसे जान लेवे, कि अब मेरा मन अमुक वृत्तिके कारण नियमसे भगा चाहता है और विषयके सन्मुख दौडा चाहता है फिर तो उसी क्षण [ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्] उसी-उसी निमित्तसे मनका नियमन करे अर्थात् जिस निमित्तसे मन वहिर्मुख होकर जिस वृत्ति द्वारा चंचल हुआ है उसी वृत्ति द्वारा मन को तहांसे हटा नियममें रखे अर्थात् उस वृत्तिको उसी वृत्तिसे रोके।

प्रमाणको प्रमाणसे, विकल्पको विकल्पसे, विपर्यको विपर्यसे, निद्रा को निद्रासे और स्मृतिको स्मृतिसे । अर्थात् उसी वृत्तिको उसी वृत्तिसे कैसे रोकना चाहिये ? सो समझाया जाता है सुनो !

योगी समाधिसे उठनेके पश्चात् अपनी व्युत्थान अवस्थामें बैठा है, कि इतनेमें एक अप्सरा सम्मुख आखडी होती है नाना प्रकारके हाव-भाव कटाक्षोंको करतीहुई चित्तको मोहित करना चाहती है । अब यहां अप्सरा प्रत्यक्ष प्रमाण होनेके कारण चित्तको खींचती है और उसीके साथ साथ स्मृति भी अपना कार्य करने लगजाती है अर्थात् चित्तको स्त्रीसंगका सुख स्मरण होआता है । इसलिये यहां दो वृत्तियां प्रमाण और * स्मृति एक संग मिलकर विक्षेपको प्राप्त करती हैं । पर जैसे यहां अप्सरा प्रत्यक्ष प्रमाण है तैसे योगी भी प्रत्यक्ष प्रमाण है । ये दोनों आंखोंसे देखेजाते हैं । तहां स्मृति-वृत्ति भी दोनों ओर कार्य कररही है । उधर अप्सराको देख भोगसुखकी स्मृति और अपनी ओर देख योगसुखकी स्मृति । अब यहां देखाजाता है, कि चित्त दोनों ओरकी खैंचा-तानीमें पडा है, कभी तो योगीके चित्तमें आता है, कि यह भोगसुख उत्तम है । ऐसी सुन्दर अप्सरा एकान्तमें हाथ आगई है । ऐसे उत्तम रत्नको त्यागना नहीं चाहिये, भोग ही लेना चाहिये ।

* यदि स्मृतिवृत्ति न हो तो केवल प्रत्यक्षसे ही विक्षेप नहीं होसकता । जैसे शृंगी वा शुकदेवने अपसराओंको देखकर कुछ भी कामकी चेष्टा नहीं की । क्योंकि उन्होंने पहले कभी स्त्रीसुखको नहीं जाना इसलिये उनको स्मृति रहित प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं सतासकता ।

यहां भोगकी स्मृति द्वारा जो संस्कार अन्तःकरणपर जमरहा है सो भोगके संकल्पके उदय करनेमें परम प्रवल है इसीको **चिन्त्यमान अवस्था** कहते हैं । इसी अवस्था तक मनके रोकनेका अवकाश है पर जब *भुज्यमानअवस्था** आजाती है तो फिर नहीं रुक सकती ।

इधर जब योगी अपनी ओर देखता है तो उसे लज्जा आती है और विचारने लगता है, कि मैं योगी हूं अपने योगवलसे भगत्स्वरूपकी प्राप्ति करसकता हूं चिरकालसे परिश्रम करके मैं अपने ब्रह्मचर्य्यका प्रतिपालन करचुका हूं, जिससे मैं **असंप्रज्ञात-समाधि** द्वारा अखण्ड ब्रह्मानन्द-सुखका अनुभव कररहा हूं । यदि इस समय इस क्षणिक-स्त्री सुखमें जा फँसता हूं तो मेरा कराकराया घर बिगडजाता है ।

इस स्त्रीको डाकिनी और पिशाचिनी समझकर परित्याग करो ! बुद्धिद्वारा दृढ विचारसे सब कुछ साध्य है । एवम्प्रकार **योग** और **भोग** दोनोंके मध्यमें चित्त जब जा पडता है, तब यदि विचार प्रबल हुआ तो **शब्दप्रमाण** अर्थात् श्रुतिस्मृतियोंके प्रमाणने सम्मुख आकर रोका और न्याय करदिया, कि विषय-भोग लम्पटोंकेलिये है, विद्वान् और ज्ञानियोंकेलिये नहीं । विद्वानोंका सुख ब्रह्मानन्द-स्वरूप है जो इस सुखसे विलक्षण है और नित्य है " **न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं-**

---

* विषयके समुख होनेसे चित्तकी दो अवस्थाएं होती हैं । प्रथम तो विषय-भोग की चिन्ता करते रहना इसे **चिन्त्यमान अवस्था** कहते हैं । और जब उस विषयको भोगने लगते हैं तब उसे **भुज्यमानअवस्था** कहते हैं ।

तत् " इस श्रुतिके अनुसार अध्रुव (अनित्य) जो विषय-सुख तिसके द्वारा ध्रुव जो नित्यानन्दमय-ब्रह्मसुख तिसकी प्राप्ति नहीं होसकती। इसलिये इस कामसुखको परित्याग ही करना चाहिये। भगवान् भी अर्जुनको पहले उपदेश करचुके हैं--" जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् " (अ० ३ श्लो० ४३ में देखो)

अर्थ— हे महाबाहो ! तू प्रयत्न-पूर्वक इस कामरूप दुर्निवार्य्य शत्रुको छोड ! यदि एवम्प्रकार विचार द्वारा इन शब्द-प्रमाणोंकी प्रबलता सम्मुख जमगई तब तो सम्मुख उपस्थित हुई रंभाको ऐसे त्याग-दिया जैसे कूकरके उवान्तको।

एवम्प्रकार जब योगीने अपने चंचल चित्तको विषयसे रोक अपने वशीभूत करलिया, तो मानो प्रत्यक्षप्रमाणके बलको प्रत्यक्षप्रमाण और शब्दप्रमाणकी प्रबलतासे तथा विषयसुखकी स्मृतिको समाधिसुखकी स्मृतिसे विजय करलिया। तात्पर्य्य यह है कि प्रमाण और स्मृति-वृत्तियोंको प्रमाण और स्मृति ही द्वारा रोकलिया। इसी प्रकार विपर्य्यय, विकल्प और निद्रावृत्तिको भी इनही द्वारा रोककर और नियममें लाकर आत्माहीमें वश करडाले। अब विपर्ययसे ? विपर्ययको कैसे नियममें लावे ? सो कहते हैं देखो ! अन्धकारके समय जो रज्जूमें सर्प भासता है " विपर्य्ययवृत्ति " है। यद्यपि रज्जू और सर्प दोनोंकी सत्यता है पर रज्जू सर्प नहीं है जब किसी दीपक द्वारा वा दिनमें सूर्य्यके प्रकाश द्वारा उस रज्जूको देखते हैं तब सर्पका भ्रम दूर होजाता है। इसी प्रकार प्राणीको अनात्मामें आत्माका भ्रम होरहा है। तथा यों कहलो, कि

असत्य में सत्य का भ्रम होरहा है तहां योगी इसी संसारके असत्य पदार्थोंसे अर्थात् असत्य शरीरमें असत्य प्राणके अभ्यास द्वारा तथा विवेकी-जन असत्य अग्निमें असत्य अन्न और घृतादिके हवन द्वारा असत्य स्वर्गकी प्राप्ति कर फिर उसे त्याग सत्य आत्मामें स्थिर होते हैं। यही मानो विपर्य्यय-वृत्तिसे विपर्य्ययवृत्तिको नियममें लाकर मनको अपने वशीभूत करना है। अब विकल्पवृत्तिको विकल्प वृत्तिसे नियम में किस प्रकार लाना है? सो दिखलाया जाता है— सुनो!

शश (खरहा) को सींग नहीं होता, आकाशमें पुष्प नहीं होता, बन्ध्याके पुत्र नहीं होता, आकाशमें दुर्ग नहीं बनता, पानीमें आग नहीं लगती इत्यादि-इत्यादि। पर इन सब बातोंको मानलेना "विकल्प-वृत्ति" है। इसी प्रकार अज्ञानी शरीरको चेतन मानते हैं, पुत्र मरगाया कहकर रोते हैं यह विकल्पवृत्ति दुःख देती है। अब कहते हैं, कि इस विकल्पको विकल्पसे नियममें लाना चाहिये अर्थात् उसी पुत्रमें जो विकल्प-रूपसे गाढ स्नेह था उसके मरजानेके पश्चात् उस स्नेहकी चोट हृदयमें लगनेसे उस पुत्रकी प्रीतिके स्थान पर जो भगवत्की माधुरी मूर्त्तिसे गाढी प्रीति लगगयी यही मानो विकल्पसे विकल्पवृत्तिका हटाना है।

अब निद्रासे निद्रावृत्तिका नियममें लाना कैसे होता है? सो सुनो—

उधर जागरितकी वस्तुओंको भूलते-भूलते सुषुप्ति-अवस्थामें चित्त-वृत्तिका जाना जो निद्रा है तहां सब वस्तुओंका अभाव होजाता है

और इधर संसारकी सारी वस्तुओंका संकल्प त्याग अविद्या रहित हो समाधिमें प्रवेश करजाना भी जागरितकी वस्तुओंका अभाव ही है। इसलिये योगी इस सुषुप्तिरूप निद्रामें लय होनेसे वृत्तिको बचाकर समाधिमें लय करे तो मानो निद्रा वृत्तिसे उसने निद्रावृत्तिको नियमन किया।

अब यहां पाचों वृत्तियोंसे वृत्तियोंको नियममें लाना सिद्ध होचुका पर इस अर्थके समझनेमें सर्व साधारणकी बुद्धि प्रवेश नहीं करसकती। इसके समझनेकेलिये बहुत बडे गम्भीर मस्तिष्ककी आवश्यकता है। इसलिये इस श्लोकका दूसरा अर्थ सर्वसाधारणके समझनेकेलिये इस प्रकार भी करना चाहिये, कि जहां-जहां जिस वृत्तिमें मन दौड जावे, मोक्ष मार्गसे चंचल होजावे और अधिक कालतक स्थिर न रहे तो योगीको चाहिये, कि उन-उन वृत्तियोंसे हटाकर इस अपने चंचल और अस्थिर मनको नियममें ला अपने आत्माके वशीभूत करे। अर्थात् जब-जब चित्तवृत्ति संसारके भिन्न विषयोंकी ओर दौडे तब-तब वहां-वहांसे हठात् वृत्तिको हटा मनको भगवत्-स्वरूपमें लयकरे।

प्रश्न— चंचल और अस्थिर दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ है फिर दो पदोंका प्रयोग क्यों किया ?

उत्तर— चंचलता तो मनके उस स्वभावको कहते हैं जो क्षण-क्षण इधर उधर दौडा फिरता है, तनक भी स्थिर नहीं होता। और अस्थिरता उसे कहते हैं, कि मन किसी स्थानमें कुछ काल स्थिर तो रहे पर अधिक काल पर्यन्त स्थिर न रहे चंचल होजावे।

अतएव योगियोंको चाहिये, कि भिन्न-भिन्न निमित्तोंसे चित्तको रोक, आत्मामें अर्थात् भगवत्स्वरूपमें स्थापित करें ॥ २६ ॥

इस प्रकार मनको आत्मामें निरुद्ध करनेसे योगीको किस तत्त्वकी प्राप्ति होती है अर्थात् योगानुष्ठानमें उन्नति करता हुआ कहां पहुंचता है? सो भगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं—

मू०— प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

पदच्छेदः— प्रशान्तमनसम् (प्रकर्षेण उपरतचेतसम् । वृत्तिशून्यतया निर्मनस्कम् वा) शान्तरजसम् (प्रक्षीणमोहादिक्लेशम्) ब्रह्मभूतम् (ब्रह्मैव सर्वमित्येव निश्चयवन्तम) अकल्मषम् (धर्माधर्मादि विकारवर्जितम) एनम (एतादृशम) योगिनम् (आत्मयोगानुष्ठानकर्त्तारम्) उत्तमम् (निरतिशयम्) सुखम् (समाधिफलम्) उपैति (उपगच्छति) ॥ २७ ॥

पदार्थः— (प्रशान्तमनसम्) पूर्वप्रकार वृत्तियोंके रोकलेनेसे उपरामको प्राप्त होगया है मन जिसका तथा (शान्तरजसम्) रजोगुणके शान्त होजानेसे दूर होगये हैं मोहादि क्लेश जिसके (ब्रह्मभूतम्) ब्रह्महीको सर्वत्रदेखरहा है अन्तःकरण जिसका और ऐसे सर्वत्र ब्रह्ममय देखनेसे (अकल्मषम्) नाना प्रकारके धर्म और अधर्मरूप उपद्रवोंसे रहित होगया है चित्त जिसका (एनं योगिनम्) इस ऐसे योगीको आपसे आप (उत्तमम्) अत्यन्त श्रेष्ठ (सुखम्) सुख अर्थात् मोक्ष सुख (उपैति) प्राप्त होजाता है ॥ २७ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें जो भगवान्‌ने मनकी सब वृत्तियों-को अपने वश करके धीरे-धीरे उपरामको प्राप्त करनेकी शिक्षा दी है। अब उसी उपरामका फल कहते हैं, कि [प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्। उपैति] जो योगी पूर्व कथन कीहुई रीतिके अनुसार अपनी वृत्तियोंको वश करलेता है अर्थात् जैसे किसी बँधुआको शृंखलाओंसे बडी दृढताके साथ बांध कर इधर उधर हिलने नहीं देते, ऐसे वृत्तियोंको चारों ओरसे बांधकर इधर उधर हिलने नहीं देता। तात्पर्य्य यह है, कि विषयोंके सम्मुख होनेसे भी जो चित्तको चलायमान नहीं होने देता, व्युत्थान कालमें अर्थात् समाधि-टूटने पर भी जो चंचल नहीं होता, अपने लक्ष्य (भगवत्-स्वरूप) में टिका रहता है और सहस्रों आपत्तियोंकी उपस्थितिसे भी भयभीत न होकर धृतिगृहीतबुद्धि होरहता है वही 'प्रशान्तमनस' कहलाता है। ऐसे योगीको उत्तम सुख आपसे आप प्राप्त होजाता है। फिर वह योगी कैसा है? कि [शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्] शान्तरजस है, ब्रह्मभूत है और अकल्मष है अर्थात् रजोगुणके नाश होजानेसे मोहादि विकारोंसे जो रहित होगया है। अथवा रज धूलिको कहते हैं इसलिये जिसके हृदयरूप दर्पणसे काम, क्रोधादि रूप धूलि निकल गयी है। जिसके निकल जानेसे हृदय शुद्ध और निर्मल होगया है, उसे शान्तरजस कहते हैं। फिर वह योगी कैसा

टिप्पणी— अंधेको आंख होजानेके समान अविद्याका अन्धकार जिसके नेत्रोंसे नष्ट होगया है ऐसे योगीको शान्तरजस कहते हैं।

है? " ब्रह्मभूतम् " ब्रह्मभूत है अर्थात् जो सर्वत्र ब्रह्ममय देखता है। एक सुईके अग्रभागसे लेकर सुमेरु पर्वत पर्यन्त सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म देख रहा है। फिर वह कैसा है? कि " अकल्मषम् " किसी प्रकारका कल्मष अर्थात् विकार जिसके शरीरमें नहीं है, जिसने शुभाशुभ कर्मोंके फलको परित्याग करदिया है। इसलिये निर्मल और स्वच्छात्मा होरहा है ऐसे योगीके समीप उत्तम सुख जो ब्रह्मसुख सो आपसेआप पहुंचजाता है। क्योंकि जब तक प्राणी प्रशान्तमनस, शान्तरजस, ब्रह्मभूत तथा अकल्मष नहीं होगा तब तक आत्मसुखकी प्राप्ति नहीं होसकती।

प्र० श्रुतिः— " ॐ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् " ॥ (का० अ० १ वल्ली २ श्रुति २४ में देखो)

अर्थ— जो प्राणी दुश्चरितोंसे विरति प्राप्त न करके अकल्मष नहीं हुआ, शान्तात्मा नहीं हुआ तथा जो समाहित-चित्त नहीं होनेके कारण शान्तमानस भी नहीं है, वह चाहे सारे ब्रह्माण्ड मात्रके भेदका जाननेवाला क्यों न हो तथा कैसा भी चतुर क्यों न हो (एनम्) इस आत्मसुखको नहीं प्राप्त करसकता, केवल प्रज्ञासे प्राप्त करता है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि जिसे उत्तम ब्रह्म-सुख प्राप्त है उसके आगे पीछे सारे ब्रह्माण्डके सुख सेवामें उपस्थित रहते हैं। पर जैसे धर्मात्मा पुरुष सहस्रों रूप यौवन सम्पन्न दासियोंके मध्य केवल अपनी धर्म-पत्नीको छोड अन्य किसी ओर आंख उठाकर नहीं देखता। इसी

प्रकार योगी सहस्रों सुखोंके मध्य केवल ब्रह्म-सुखको ही देखता है अन्य किसी सुखकी ओर आंख उठाकर नहीं देखता। क्योंकि अखण्ड परिपूर्ण सर्वगत ब्रह्मसुखसे वह भरापूरा कृतकृत्य और आप्तकाम रहता है। इसी कारण भगवान्‌ने इस ब्रह्म-सुखको उत्तम सुख कहा है ॥ २७ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें स्पष्ट-रूपसे यह दिखलाते हैं, कि इसी उत्तम ब्रह्म-सुखको केवल योगी ही प्राप्त करता है—

मू०— युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

पदच्छेदः— एवम् (यथोक्तेन क्रमेण) विगतकल्मषः (निरस्ताविद्यादि क्लेशः । संसारहेतुधर्माधर्ममलरहितः) योगी (योगान्तरायवर्जितो योगी) सदा (सर्वस्मिन्काले) आत्मानम् (मनः । अन्तःकरणम्) युंजन् (आत्मनि समादधत् । वशीकुर्वन् स्वनिष्ठं कुर्वन् वा) सुखेन (अनायासेन) ब्रह्मसंस्पर्शम् (ब्रह्मणा संस्पर्शो यस्य तत् । त्रिविधोपाधिप्रविलयान्निर्विशेषं ब्रह्मैक्यम्) अत्यन्तम् (निरतिशयम्) सुखम् (परमानन्दैकरूपम्) अश्नुते (प्राप्नोति) ॥ २८ ॥

पदार्थः— (एवम्) इस प्रकार (विगतकल्मषः) अविद्या द्वारा उत्पन्न नाना प्रकारके मल और क्लेशोंसे रहित (योगी) योगानुष्ठान करनेवाला साधक (सदा) निरन्तर (आत्मानम्)

मनको (युंजन्) समाधान करता हुआ (सुखेन) बिना किसी परिश्रमके बडी सुलभतासे (ब्रह्मसंस्पर्शम्) ब्रह्मसे स्पर्श अर्थात् ब्रह्मानन्दयुक्त (अत्यन्तम्) सर्वोत्तम (सुखम्) सुखको (अश्नुते) प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें जो उत्तमसुख कह आये हैं अब उसीको विस्तार-पूर्वक स्पष्ट-रूपसे कथन करतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [**युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः**] जो योग साधन करनेवाला साधक सर्व प्रकारके कल्मषोंसे रहित होकर निरन्तर मनको आत्मामें समाधान कियेहुए रहता है वही इस सुखका अधिकारी है । अर्थात् अविद्या जो नाना प्रकारके द्वन्द्वोंकी रचना करके जन्तुओंको कूपघटिका-यंत्रके समान बारम्बार नीचे ऊपर करती रहती है, शुभाशुभके फन्दे डालकर स्वर्ग और नरककी यात्रा करवाती रहती है, अत्यन्त गम्भीर समुद्रके वेगसे इधर उधर लुढकतीहुई सूखी तूंबीके समान भवसागरकी घोर धारामें जीवोंको लुढकातीहुई कल्मषोंके धक्कोंसे व्याकुल करती रहती है, सुखसे सोनेवालों के लिये जैसे खटमल और मच्छर कल्मष रूपहैं, इसी प्रकार योगानुष्ठान करनेवालोंकी शान्तिमें और एकाग्रतामें जो अविद्या कल्मष-रूप है सो ब्रह्मसुखरूप शयनमें आनन्द पूर्वक सोने नहीं देती । अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि तक नहीं पहुँचने देती । तिस अविद्याको जिस योगीने बडे प्रबल पुरुषार्थसे दूर फेंककरे ब्रह्मसुखमें प्रवेश करजाने की शक्ति प्राप्त करली है और त्रय तापोंको अपने समीप नहीं आने

दिया है; अपनी चित्त-वृत्तियोंको एकाग्र कर विषयोंसे रहित हो यत-चित्तात्मा होरहा है उसी योगीको विगतकल्मष कहते हैं।

शंका— श्रुति तो यों कहती है, कि " तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये " अर्थ— जब तक प्रारब्धका भोग रहता है तब तक प्राणी दुःख सुखसे छूटकर मुक्त नहीं होता, प्रारब्धको अवश्य भोगता-रहता है। पर अब यहां कहते हैं, कि प्रबल पुरुषार्थ द्वारा दुःखोंसे छूटजाता है। इन दोनों सिद्धान्तोंमें परस्पर विरोध पायाजाता है। इनमें कौन मानने योग्य है ?

समाधान— सच है भोगना अवश्य है पर प्रबल पुरुषार्थसे जिसने ज्ञान प्राप्त किया उस ज्ञानी और मूढ दोनोंके भोगनेमें अन्तर है। ज्ञानी दुःख भोगनेमें अनुद्विग्न रहता है और मूढ उद्विग्न होकर व्याकुल होजाता है तथा रोने पीटने लगजाता है। ज्ञानी परमानन्दके मदसे मत्त होकर दुःखोंकी कुछसी परवाह नहीं करता। जैसे प्रह्लाद को अग्निमें जलने, सर्पके डसने, पर्वतसे गिरायेजाने इत्यादि दुःखोंकी कुछ भी परवाह न हुई। इसी प्रकार जो ब्रह्मभूत योगी है उसे दुःखोंके भोगनेका कष्ट नहीं व्यापता। शंका मत करो!

ऐसे ही योगीके विषय भगवान् कहते हैं कि जो योगी विगत-कल्मष है, वही निरन्तर अपने मनको आत्मस्वरूपमें समाधान कियेहुए ब्रह्मानन्दसे मत्त हो निश्चिन्त और सर्व प्रकारके उपद्रवोंसे निर्भय होकर [सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते] सुख पूर्वक अर्थात् विना परिश्रम आपसे आप श्रेष्ठ ब्रह्म-सुखको प्राप्त होता है।

वह सुख कैसा है ? सो भगवान् कहते हैं— ब्रह्मसंस्पर्शम् अर्थात् ब्रह्मसे संस्पर्श कियेहुआ है । जैसे कामी पुरुषका जब कामसे संस्पर्श होता है तब उसे सर्वत्र स्त्री ही स्त्री देख पडती हैं । स्वप्नमें भी स्त्री ही स्त्री देखता है । इसी प्रकार जिसका ब्रह्मसे संस्पर्श होगया है वही सदा सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म देखता है । क्योंकि वह ब्रह्मभूत होजाता है । जैसे नमककी डलीके स्पर्शसे पानी सर्वत्र लवण ही लवण होजाता है । इसी प्रकार योगी ब्रह्मभूत होकर अर्थात् ब्रह्मके संस्पर्शसे सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म देखने लगता है । अथवा यों कहना चाहिये, कि अपने से लेकर सम्पूर्ण विश्वमात्र पर्यन्त ब्रह्म मय होजाता है । ब्रह्मसे इतर अन्य कुछ भी अनुभव नहीं करता । इसलिये सो सुख ब्रह्मसंस्पर्श कहाजाता है ।

इसी ब्रह्मसंस्पर्श सुखके विषय कपिलदेव अपनी गीतामें कहते हैं, कि "मन: स्थिरं फलमिदं यथा पक्वं भवेत्तदा । माधुर्यं ब्रह्म-रसतां प्राप्तं हंसैः सुसेव्यते ॥ मनोवासनया बद्धं मुच्येन्निर्वासनं यदि । तदेव ब्रह्मरसतां याति तत्पीयते बुधैः ॥ ब्रह्मरसः स्वादुतमो हृत्तमे पूर्ण आत्मनि । इन्द्रैश्वर्य्यमतः क्षुद्रं का कथेतरभूपतेः ॥"

(कपिलगीता अ० ५ श्लोक ८४, ८५, ८६)

अर्थ— योगानुष्ठान द्वारा मनको स्थिर करनेका फल ऐसा है जैसे पक्के आम्रफलकी मधुरता जो धीरे-धीरे प्राप्त होती है क्योंकि पक्क होनेसे पहले आममें खटास रहती है । जैसे-जैसे वह पकताजाता है तैसे-तैसे उसका रस मधुरताको प्राप्त होता जाता है । इसी प्रकार जैसे

जैसे योगियोंका योग परिपक्व होता जाता है तैसे-तैसे उनके हृदयमें ब्रह्मरसता प्राप्त होती जाती है। जो योगी कुटिचक और बहूदक इन्हीं दो अवस्थाओंको प्राप्त करनेके पीछे तीसरी हंसकी अवस्था प्राप्त करता है इसीके द्वारा ब्रह्मरसताकी मधुरता सेवेजाने योग्य है। अथवा यों अर्थ करलीजिये, कि सो ब्रह्मरस, हंस जो राग द्वेष रहित जीव, ज्ञान रूप क्षीरका ग्रहण करने वाला है तिससे सेवेजाने योग्य है। सो ब्रह्मरसता कब प्राप्त होती है? जब मन सर्व प्रकारकी वासनाओंको परित्याग कर शुद्ध होजाता है। जिस ब्रह्मरसको विवेकी पान करते हैं सो ब्रह्मरस कैसा है? कि आत्मानन्दसे पूर्ण, हृदयकमलकेलिये अत्यन्त स्वादु अर्थात् मीठा है, जिसके सम्मुख इन्द्रका ऐश्वर्य भी अत्यन्त क्षुद्र है, अन्य लौकिक राजाओंके सुखकी तो कथा ही क्या है॥

इसी ब्रह्मरसताके विषय भगवान् कहते हैं, कि यह सुख ब्रह्मसंस्पर्श-सुख कहाजाता है। ? फिर यह सुख कैसा है "अत्यन्तम्" अत्यन्त है। अर्थात् जिसका अन्त नहीं है और सर्व प्रकारके परिच्छेदोंसे रहित है। क्योंकि जो पदार्थ* देश, काल और वस्तुसे परिच्छेदको पाता है उसका अन्त होता है। जैसे नित्य शीतल गंगाजलसे स्नानका सुख केवल गंगातटमें प्राप्त है अन्य स्थानमें नहीं इसलिये यह सुख देश-

* देश, काल और वस्तु तीनों प्रकारके परिच्छेदोंका वर्णन अ० २ श्लोक १६ में देखो।

بموجب قول ...

परिच्छेदसे परिच्छिन्न होनेके कारण एकही देशमें अन्तको पाता है। तथा शीतल, मन्द, सुगन्ध वायुके स्पर्शका सुख और कोकिलके मधुर कुहुकके श्रवण करनेका सुख केवल बसन्त ऋतुमें ही होता है अन्य ऋतुओंमें नहीं। इसलिये यह सुख काल-परिच्छेदसे परिच्छिन्न होनेके कारण बसन्त ऋतुमें ही अन्तको पाता है।

इसी प्रकार पिपासाकी शान्तिका सुख केवल एक प्याला शीतल जलसे ही प्राप्त होता है, अन्य वस्तुसे नहीं। इसलिये यह सुख वस्तु-परिच्छेदसे परिच्छिन्न होनेके कारण जलही तक अन्तको पाता है।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि अन्य जितने सुख हैं सब देश, काल और वस्तुसे परिच्छेद होनेके कारण अन्तको प्राप्त होते हैं। पर यह ब्रह्मसुख देश, काल और वस्तुसे परिछिन्न नहीं है, सब देश, सब काल और सब वस्तुओंमें है। इसलिये इसका कहीं भी अन्त नहीं होता। इसी कारण भगवान्‌ने इस सुखको अत्यन्त कहा।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि योगानुष्ठान करनेवाला योगी ही इस प्रकार सदा अपनेको ब्रह्ममें नियोग करता हुआ सब कल्मषों से रहित होकर ब्रह्म-संस्पर्श सुखको जो अनन्त और उत्तम है प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

पूर्वोक्त ब्रह्म-संस्पर्श-सुख योगियोंको देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सर्वत्र, सब ठौर क्यों व्यापक भासता है? सो भगवान् अगले तीन श्लोकोंमें वर्णन करते हैं—

मू०— सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

पदच्छेदः— योगयुक्तात्मा (योगेन समाहितान्तःकरणः) सर्वत्र (सर्वस्मिन् स्थाने) समदर्शनः (ब्रह्मादि स्थावरान्तेषु ब्रह्मात्मैकत्वविषयं दर्शनं यस्य सः) आत्मानम (स्वस्वरूपम्) सर्वभूतस्थम (सर्वेषु भूतेषु स्थितम्) सर्वभूतानि (ब्रह्मादिस्थावरपर्यन्तानि) आत्मनि (स्वस्मिन् स्वरूपे) ईक्षते (पश्यति) ॥ २९ ॥

पदार्थः— (योगयुक्तात्मा) योगानुष्ठान द्वारा अपने अन्तःकरणको जिस योगीने समाहित अर्थात् एक लक्ष्यपर स्थित करलिया है तथा (सर्वत्र समदर्शनः) सब ठौरमें समान दृष्टिसे जो देखरहा है ऐसा योगी (आत्मानम) अपनेको (सर्वभूतस्थम) सब भूतोंमें स्थित तथा (सर्वभूतानि) सब भूतोंको (आत्मनि) अपनेमें (ईक्षते) देखता है । इसी कारण यह ब्रह्मसंस्पर्शसुख उसे अपरिच्छिन्न और व्यापक भासता है ॥ २९ ॥

भावार्थः— देश, काल और वस्तुओंसे अपरिच्छिन्न जो सबोंमें उत्तम और अत्यन्त आनन्ददायक ब्रह्मसुख है वह योगियोंको क्यों सर्वत्र सब ठौर व्यापक देख पडता है ? सो श्री आनन्दकन्द व्रजचन्द अर्जुनके प्रति स्पष्ट-रूपसे दिखलाते हुए कहते हैं, कि [**सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते**] योगी सब भूतोंमें अर्थात् जड चेतनमें अपनेको स्थित देखता है और सब भूतों

को अपनेमें स्थित देखता है। जैसे मानलो, कि किसी काच-निर्मित-शाला (शीशमहल) में जिसकी दीवालोंपर सर्वत्र काच लगाहुआ रहता है, एक स्फटिकका बनाहुआ मनुष्य घुसजावे तो सर्वत्र उन दीवालों-में वह मनुष्य अपनेको देखेगा और उन दीवालोंको उनमें लटकीहुई वस्तुतस्तुओंके सहित अपनेमें देखेगा। इसी प्रकार योगी सबमें अपनेको और अपनेमें सबको देखता है।

यदि कोई बुद्धिमान विचारे, कि स्फटिकका मनुष्य शीशमहल को अपनेमें और अपनेको शीशमहलमें क्यों देखता है ? तो अवश्य उसकी सूक्ष्मबुद्धि इस बातको बतादेगी, कि इस अद्भुत लीलाका कारण केवल काच तथा स्फटिककी निर्मलता और स्वच्छता है। शीशमहलके काच भी निर्मल हैं और उस मनुष्यके शरीरका स्फटिक भी शुद्ध है।

मुख्य अभिप्राय इस दृष्टान्तसे यह है, कि सर्वत्र सब ठौर सब वस्तुतस्तुओंमें और दशों दिशाओंमें व्यापक ब्रह्म भी निर्मल और स्वच्छ है तथा देखनेवाला योगी भी निर्मल और स्वच्छ है। क्योंकि योगी जिस अन्तःकरणसे देखता है वह शुद्ध स्फटिकके समान ही निर्मल है और जिसको देखता है वह भी शुद्ध और निर्मल है। योगियोंके अन्तःकरणकी स्वच्छता ही योगीको सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म दिखारही है।

अब इस दृष्टान्तसे यह भी सिद्ध होता है, कि जब देखनेवालेने सबमें अपनेको देखा, तो वैर-विरोध किससे करे ? सब तो आप ही है इसी कारण ऐसे प्राणीको आत्मभूत कहते हैं और समदर्शी कहते हैं।

एक दिन महात्मा नामदेवने अपने भोजन निमित्त रोटी बनाकर रक्खी, इतनेमें कूकर आनकर रोटी लेचला, तब आप घी लेकर पीछेसे दौडे और पुकारने लगे, भाई कूकर ! सूखी रोटी कैसे खाओगे ? लो ! यह घृत भी तो लियेजाओ ! इस दृष्टान्तसे तात्पर्य यह है, कि नामदेवने अपनेको उस कूकरमें देखा और विचारा, कि इस मानुषी-शरीरमें भी मैं ही भोजन करूंगा और कूकरके शरीरमें भी मैं ही भोजन करनेवाला हूं । इसी प्रकार समदर्शी योगी सबमें अपनेको देखता है तथा " सर्वभूतानि आत्मनि ईक्षते " सर्व भूतोंको अपनेमें देखता है अर्थात् सम्पूर्ण विश्वको अपने स्वरूपमें देखता है ।

शंका— भगवान् जो इस श्लोकमें यह कहरहे हैं, कि ब्रह्म-विद् योगी सब भूतोंमें अपनेको और सब भूतोंको अपनेमें देखता है सो कैसे बने ? क्योंकि यह मनुष्य साढे तीन हाथवाला अपनेको खट-मल और मच्छरोंमें और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अर्थात् महान् विराट्को केवल अपने साढे तीन हाथके शरीरके भीतर कैसे देख सकता है ? इस-लिये भगवान्का वचन असंगत देख पडता है ऐसा क्यों ?

समाधान— ऐसा मत कहो सुनो ! भगवानका तात्पर्य यहां स्थूल शरीरसे नहीं है । भगवान् यह नहीं कहते हैं, कि अपने इस साढे तीन हाथ शरीरको सब जीवोंके शरीरमें देखता है अथवा सबको अपने साढेतीन हाथके शरीरमें देखता है । ऐसा तो समझना ही असंगत है । क्योंकि साढेतीन हाथवाला मनुष्य अपने शरीरको एक मशक (मच्छर) के शरीरमें कैसे देखेगा ? तहां तो उसके एक

केशका भी समावेश नहीं होसकता। इसलिये यहां यह तात्पर्य नहीं है, कि योगी अपने स्थूलशरीरको सबमें देखे और सम्पूर्ण स्थूल विराट् को अपने शरीरमें देखे। वरु भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य यहां यह है, कि जो प्राणी अपने आत्माको सब भूतोंमें देखता है अर्थात् आत्मतत्त्व जो स्वयम सर्वशक्तिसम्पन्न है अर्थात् जो आत्मा अणुसे भी अणु अर्थात् अत्यन्त छोटेसे भी छोटा है और महत्से भी महत् अर्थात् बडेसे भी बडा है उसमें जितनी अद्भुत शक्तियां हैं वे स्थूलके छोटे बडे होनेपर छोटीबडी नहीं होतीं। वे तो स्वयं स्वभाव-सिद्ध छोटीसे छोटी और बडीसे बडी वस्तुओंमें हैं। जैसे एक तिमिं-गिल नामका मत्स्य जो प्रायः सागरोंमें बडी-बडी नौका अर्थात् स्टीम-रोंको चीरडालता है, नाविकों द्वारा देखागया है। अन्यदेशीय नावि-कगण भी कहते हैं, कि उन्होंने ४ कोस तकका लम्बा मत्स्य अपनी आंखोंसे देखा है। इस तिमिंगिलको भी निगलजानेवाला बहुत बडा एक दूसरा मत्स्य होता है जिसे * तिमिंगिल-गिल कहते हैं। फिर इस तिमिंगिलगिलसे भी एक बडा मत्स्य होता है जिसे राघवमत्स्यके नामसे पुकारते हैं। अब इस राघवमत्स्यको एक ओर और छोटीसी पिपीलिकाको दूसरी ओर रखकर बिचारिये, कि वह कौनसी वस्तु है जिस कारण इन दोनोंमें समान कार्य होरहा है अर्थात् देखने, सुनने, चलने, फिरने, स्वादलेने, काम इत्यादिकी चेष्टा करनेमें राघव-

* "तिमिंगिलगिलोप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघवः" इस तिमिंगिलको अंग्रेजीमें ह्वेल Whale कहते हैं।

मछली और पिपीलिका एक समान देखीजाती हैं। अर्थात् दशों इन्द्रियां और चारों अन्तःकरण तथा पांचों प्राणोंके कार्य इन दोनों छोटेबडे जीवोंमें अपने-अपने संस्कारानुसार समानरूपसे होरहे हैं। छोटीसी छोटी चींटीमें भी वे ही १९ शक्तियां हैं जो बडेसे बडे राघव (मत्स्य) में हैं। यदि यह शंका हो, कि छोटी पिपीलिकामें ये *शक्तियां उसके शरीरके छोटा होनेके कारण कम होंगी और तिमिंगिल वा हस्तीमें अधिक होंगी सो ऐसा नहीं। देखो! हाथीका शरीर बहुत ही स्थूल और बडा होता है पर वह अपने आसपासकी वस्तुओंको छोड दस बीस हाथ दूरकी वस्तुको नहीं देख सकता तथा मनुष्य भी दस पांच हाथ दूरवाले मांसके छोटे खंडको नहीं देख सकता। पर चीलकी आंखे जो हाथी और मनुष्यसे बहुत ही छोटी हैं ऐसी दृष्टि-शक्ति रखती हैं जिनके द्वारा चील मीलों ऊपरसे, पृथ्वीपर पडे हुए मांस-खंडको देख उठा लेजाती है। हाथी अपने दातोंसे एक इंच पृथ्वी भी नहीं खोद सकता, पर शूकर जो हस्तीसे बहुत ही छोटा है अपने दातोंसे रात्रि भरमें बडे-बडे गढहे करडालता है। फिर देखिये मूषक (चूहे) जो हाथी तथा शूकरसे भी बहुत ही छोटे होते हैं पृथ्वीमें कोसों खोदकर बिल बना डालते हैं। फिर बया (चोंचा) एक चिडिया होती है जो तालवृक्षोंपर घोंसला ऐसी उत्तम रीतिसे रचती है, कि मनुष्य वैसा बना ही नहीं सकता। मधुमक्षिकाएँ छोटीसी

*१९ शक्तियां— ५ कर्मेन्द्रिय, ५ ज्ञानेन्द्रिय, ४ अन्तःकरण और ५ प्राण ये १९ शक्तियां सब जीवोंमें हैं।

कीडियां हैं जो वृक्षोंमें तथा घरोंमें अपने मधुका छत्ता इस प्रकार बनाती हैं, कि उसमेंका एक-एक घर गोलाकार एक समान नपानपाया बना रहता है। जिसे मनुष्य बिना यंत्रोंसे नापे नहीं बना सकता। फिर उस छत्तेको बिना किसी रस्सी और डोरके ऊंचे उलटा लटका देती है। बुद्धिमानको विचारना चाहिये, कि इन छोटी भ्रमरियोंमें कितनी बुद्धि है जिसके द्वारा उस अपने छत्ते की गुरुता (भारीपन) अपनी बुद्धिसे मापकर उतनी ही दृढताके साथ छतोंमें लटका देती हैं। इन रचनाओंके देखनेसे बोध होता है, कि शरीरके छोटे-बडे होनेकी कुछ भी अपेक्षा न करके छोटे-छोटे जन्तुओंमें ऐसी अद्भुत शक्तियां ईश्वरकी ओरसे प्रदान कीहुई हैं, कि मनुष्योंकी बुद्धि उनके व्यवहारोंको देखकर चक्करमें आजाती है। वर्षा होनेसे पहले चींटियोंको बोध होजाता है, कि अब दो चार दिनों में वर्षा होगी। फिर तो सहस्रों चींटियां एक साथ मिलकर बिलोंमें अपने भोजनकी वस्तु लेजाकर भरदेती हैं। जिसे देख लोग कहते हैं, कि अब पानी बरसनेवाला है। बुद्धिमान विचारेंगे, कि बडे-बडे विज्ञानी (Philosopher) तथा वायु-विद्या, नभो-विद्या, अन्तरिक्ष-विद्या (Meterology) के जाननेवाले बहुत दिनों तक सिरकी गूदी उडानेके पश्चात् बडे परिश्रमसे इतना जान सकते हैं, कि अब जल होनेवाला है, पर चींटियोंके मस्तकमें यह विद्या परमात्माने स्वाभाविक प्रदान की है जो अपने स्वभावसे ही वर्षाकालका अनुभव करलेती हैं। इसलिये सिद्ध होता है, कि शरीरोंके बडे छोटे होने पर शक्तिके न्यूनाधिक्य (छोटाई बडाई) का होना निर्भर नहीं है। इससे सिद्ध

होता है, कि इनमें किसी अद्भुत तत्त्वकी शक्ति है जो पांचभौतिक स्थूलके साथ अद्भुत रचनाओंमें उनकी स्थितिका कारण है । सो कौन है? आत्मा है वा ब्रह्म है, जो सबमें व्यापकर अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियोंको दिखलारहा है । जैसे एक ही आकाश बंसी, वीणा, सहनाई, खंजरी, तबला, पखावज, हारमोनियम, ग्रॉमोफोन, तम्बूरा, जंजीरा इत्यादि यंत्रोंमें व्यापकर भिन्न-भिन्न सुरेली ध्वनि प्रकट करता है । इसी प्रकार एक ही आत्मा भिन्न भिन्न भूतोंमें व्यापकर अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियोंको प्रकट कररहा है । श्रुतिः— " ॐ अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ (कठ० अ० २ व० ५ मं ९)

अर्थ— जैसे एक ही अग्नि छोटी बडी त्रिकोण चौकोण लकडियोंमें प्रवेश करके छोटी बडी त्रिकोण चौकोण देख पडती है । इसी प्रकार आत्मा सब छोटे बडे रूपोंमें प्रवेश करके तदाकार देखपडता है तथा उन पदार्थोंसे (बहिश्च) बाहर-बाहर भी देखपडता है ।

अब विचारने योग्य है, कि जिसमें छोटेसे छोटा और बडेसे बडा होजानेकी शक्ति है वह आत्मा क्यों नहीं सबमें अपनेको और अपनेमें सबको देखेगा ?

शंका— तुमने आत्मसत्ताकी व्यापकताके विषय पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादि केवल चेतनजन्तुओंके दृष्टान्त दिखलाये पर भगवान् तो सर्वभूत शब्दका प्रयोग अपने श्लोकमें करते हैं इसलिये सर्वभूतमें तो जड वस्तुओंमें भी आत्मसत्ताकी व्यापकता दिखलानी चाहिये ।

समाधान— सुनो ! मैं तुमको जड पदार्थोंमें भी आत्मसत्ताकी विचित्र व्यापकता दिखलाता हूं देखो ! जड पदार्थ दो प्रकारके हैं उद्भिज (Vegetables) और आकरज (Minerals) इनमें भी आत्मसत्ताकी अद्भुत लीलाएँ देखपडती हैं।

यद्यपि इन दोनोंमें इतना ही अन्तर है, कि उद्भिजोंमें कुछ वैहायस और तैजसका अंश भी पाया जाता है और आकरजोंमें वैहायस वा तैजस अंशका अभाव है। केवल दानमात है पर इससे क्या ? आत्मसत्ता तो सर्वत्र अपना कार्य कररही है।

देखो ! उद्भिजोंमें एक बनस्पति है जिसे लजौनी कहते हैं। जिस में प्रत्यक्षरूपसे चेतनाका बोध होता है, कि अँगुलियोंसे स्पर्श करने के साथ ही वह सिकुडजाती है। इसी प्रकार अन्य उद्भिजोंमें तथा आकरजोंमें भी आत्माकी व्यापकताके कारण चेतनाशक्ति है। पर उन की संज्ञा अन्तर्मुख है जैसे नींद लेनेवाले मनुष्योंकी संज्ञा सुषुप्तिके समय अन्तर्मुख रहती है पर चोर दूरसे उसे भी चेतन ही समझता है शीघ्र उसके आस-पासके रखेहुए पदार्थोंको स्पर्श नहीं करता। इसी प्रकार आत्मभूत प्राणी इन अन्तर्मुख संज्ञावाली जड वस्तुओंमें अर्थात् उद्भिजों और आकरजोंमें भी आत्मसत्ताको व्यापक समझरहा है।

टिप्पणी= वैहायस आकाशी तेजवाला जिसे अंग्रेजीमें (Etheric matter) कहते हैं।

चेतना= बोध जिसे अँग्रेजीमें Sansitueness वा Sensibility कहते हैं।

घनमाला= जिसे अंग्रेजीमें (Density) कहते हैं।

देखो ! किसी दुःखी प्राणीको उसके दुःखसे मुक्तकरदेना चेतन-शक्तिका कार्य्य है सो प्रत्यक्ष देखनेमें आता है । जिस समय मनुष्य अथवा कोई जीव ज्वर, अतिसार, कास, श्वास, प्लीहा इत्यादि भयंकर रोगोंसे ग्रस्त होकरे चिल्लाहटें मारता है उस समय एक किसी उद्भिजका रस निचोड उसके मुखमें डालो ! वह उसी द्वारा ज्वरादि रोगों-से मुक्त होता है अथवा तूतिया, हरताल, संखिया इत्यादि आकरजोंको फूंक-फूंक कर रोगियोंको दो तो वे नाना प्रकारके भयंकर रोगोंसे मुक्त होजाते हैं । इससे प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, कि जड पदर्थोंमें भी आत्म-सत्ता विहार कररही है । जिसे आत्मभूत-योगी अपनी दिव्य-दृष्टिसे देखरहा है और उस व्यापक आत्मसत्ताको अपना स्वरूप समझता है ।

कहनेका मुख्य तत्पर्य्य यह है, कि वह आत्मा है जो **अणो-रणीयान्** अर्थात छोटेसे छोटा और **महतो महीयान्** बडेसे बडा होकर अपनेको सारे ब्रह्माण्डमें और सारे ब्रह्माण्डको अपनेमें देखता है ॥

इसी कारण श्यामसुन्दर इस श्लोकमें कहते हैं, कि जो योगी अपनेको सर्वभूतस्थ तथा सर्व भूतोंको अपनेमें देखता है सो ही पुरुष **योगयुक्तात्मा** और समदर्शी है । अथवा यों कहलीजिये, कि जो योगी युक्तात्मा और समदर्शन वाला है वह अपनेको सबमें और सबको अपनेमें देखता है ।

यदि पूछो, कि वह कौन है? जो उक्त प्रकार देखता है तो भगवान् कहते हैं, कि [**योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः**] जिस योगीने योगानुष्ठान द्वारा अपने अन्तःकरणको समाहित कररक्खा

है अर्थात सर्व प्रकारके द्वन्द्वोंसे हटाकर अपने लक्ष्यकी ओर एकाग्र कररखा है तथा रागद्वेष और दु:ख-सुखसे जो हर्ष-विषादाको प्राप्त नहीं होता वही सबमें अपनेको देखता है ।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जैसे पनिहारी मार्गमें अपनी सखियोंसे बोलती बतराती चली जाती है पर अपने चित्तकी वृत्तिको अपने मस्तक वाले जलके घटसे युक्त रखती है अथवा जैसे नट एक पतले रस्से पर चलता हुआ अपने मनको एक लक्ष्यमें टिकाये, अपने वश किये हुए इधर उधर नहीं हिलने देता । इसी प्रकारे जो योगी सर्व कर्म करता हुआ भी अपने मनको आत्मामें टिकाये हुए रहता है सो ही युक्तात्मा सब भूतोंमें अपनेको देखता है । यथा श्रुतिः— " ॐ यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ " (काठ० अध्या० १ वल्ली ३ मं० ६)

अर्थ— जो योगी मनको सदा योगमें युक्त करके विज्ञानवान होता है उसीकी इन्द्रियां सदा अपने वश रहती हैं। अर्थात् जो योगी भगवत्स्वरूपकी ओर चित्त लगाये सबके प्रति हां जी हां जी कहता हुआ अपने मनको अपने स्वरूपमें युक्त रखता है उसीकी इन्द्रियां उसके वशीभूत ऐसी रहती हैं जैसे उत्तम सारथीके हाथमें उत्तम जातिके अश्व रहते हैं जिनके द्वारा सारथीको रथ चलानेमें क्लेश नहीं होता । ऐसे ही को योगयुक्तात्मा कहते हैं। भगवान कहते हैं, कि जो योगी एवम् प्रकार योगयुक्तात्मा है तथा "सर्वत्र समदर्शन:" सर्वत्र समदर्शन है अर्थात् जो दायें, बायें, ऊपर, नीचे, दशों दिशाओं

में कीट पतंगसे लेकर इन्द्रादि देव पर्य्यन्तको तथा अपने शत्रु मित्र को, लोहा और सोनाको, अपने और परायेके शरीरको × ऋतम्भरा नाम प्रज्ञासे एक समान देखता है वही सब भूतोंमें अपनेको और सब भूतोंको अपनेमें देखता है। इसी विषयको भगवान् पहले भी कह आये हैं, कि "**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे**...." (देखो अ० ५ श्लो० १८) ॥ २६ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! इस अन्तःकरणका स्वभाव है, कि इसमें एक ही समय दो वस्तु नहीं अटक सकतीं। फिर जो तुमने मुझसे थोडी देर पहले श्लोक १४ में कहा है, कि "**मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः**" ॥ अर्थात् मनको संयम करके मेरेमें अपना चित्त लगाये रहे और मेरा ही परायण रहे। पर अब कहते हो, कि "**सर्वभूतानि चात्मनि**" सब भूतोंको अपनेमें देखे। तो यह कैसे सम्भव है? कि प्राणी एक ही समय सब भूतोंको फिर तुमको भी अपनेमें देख सके।

× **ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा** (योगसूत्र पाद १ सूत्र ४८ में देखो)

व्यासभाष्यः—'तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति। अन्वर्था च सा सत्यमेव बिभर्ति न तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्तीति'।

अर्थ— ऋत जो सत्यस्वरूप ब्रह्म तिसे छोडकर विपर्यय जो मिथ्यासंस्कार तिसका गन्धमात्र भी जिस प्रज्ञा (बुद्धि) में नहीं अर्थात् जो सत्यहीको भरे, मिथ्याको नहीं उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं।

इतना सुन श्री आनन्दकन्द योगेश्वर भगवान् उत्तर देते हैं—

मु०—यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
॥ ३० ॥

पदच्छेदः—यः (योगी) सर्वत्र (सर्वेषु भूतेषु) माम् (सर्वस्यात्मानं वासुदेवम्) पश्यति (विवेकचक्षुषाऽपरोक्षी करोति) च (तथा) सर्वम् (ब्रह्मादिभूतजातम् । प्राणिमात्रम्) मयि (सर्वात्मनि वासुदेवे) पश्यति (अवलोकयति) तस्य (योगयुक्तस्य) अहम् (भगवान्) न (नहि) प्रणश्यामि (अदर्शनं गच्छामि । परोक्षो भवामि वा) च (तथा) सः (भक्तः) मे, न, प्रणश्यति (परोक्षोभवति तिरोभवति वा) ॥ ३० ॥

पदार्थः— (यः) जो ध्यानयोगी (सर्वत्र) सब भूतोंमें (माम्) मुझ सर्वात्मा वासुदेवको (पश्यति) विवेकके नेत्रोंसे प्रत्यक्ष कर देखता है (च) और (सर्वम्) ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्य्यन्त प्राणीमात्रको (मयि) मुझ वासुदेवमें (पश्यति) प्रत्यक्षरूपसे देखता है (तस्य) तिस योगीके लिये (अहम) मैं (न प्रणश्यामि) परोक्ष नहीं रहता हूं अर्थात् उसके सामनेसे अलग नहीं जाता (स) वह (च) भी (मे) मेरे लिये (न प्रणश्यति) परोक्ष नहीं होता अर्थात् मेरे सामनेसे विलग नहीं होता ॥ ३० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे यह प्रश्न किया था, कि हे भगवन ! सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके भूतमात्रको तथा आपको एक ही समय

एक प्राणी कैसे ध्यानमें रख सकता है इसके उत्तरमें भगवान अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति] जो योगी मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है उसके लिये हे अर्जुन ! तनक भी क्लेश नहीं है। क्योंकि मैं जो सब भूतमात्र का आत्मा हूं मेरे बिना एक तृणमात्रभी एक क्षण किसी ठौरमें नहीं ठहर सकता, सब मेरे आश्रय ठहरे हुए हैं तथा मैं ही मनुष्य, गन्धर्व, देव, कीट, पतंग, चार खानि और चौरासीलक्ष योनियोंका, तैंतीस-कोट देवताओंका तथा सप्तलोक ऊपर और सप्तलोक नीचेका अधि-ष्ठानरूप हूं तिसे जो भूतमात्रमें देखता है उसे तनक भी क्लेश नहीं है। भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जैसे एक वस्त्रमें नाना प्रकारके चित्र खिंचे रहते हैं पर सब चित्रोंका आधार वह पट रहता है, पटके निकाल देनेसे चित्र कहीं नहीं देख पडते, सब मिथ्या भासते हैं इसी प्रकार उस वासुदेवके विलग करदेनेसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मिथ्या भासता है ।

इस विषयको पाठकोंके बोधार्थ स्पष्टरूपसे दिखलायाजाता है—
" यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम । परमात्मनि विज्ञेयं तथावस्थाचतुष्टयम्॥ १ ॥ यथा धौतो घट्टितश्च लांछितो रंजितः पटः। चिदन्तर्यामि सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते ॥ २ ॥ स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्यात घट्टितोऽन्नविलेपनात। भाष्याकारैर्लांछितः स्याद्रंजितो वर्णपूरणात ॥ ३ ॥ स्वतश्चिदन्तर्यामी तु मायावी सूक्ष्मसृष्टितः। सूत्रात्मास्थूलसृष्टचैव विराडित्युच्यते परः ॥ ४ ॥

ब्रह्माद्याः स्तंबपर्यन्ताः प्राणिनोऽत्र जडा अपि। उत्तमाधमभावेन वर्त्तन्ते पटचित्रवत " ॥ ५ ॥

(वेदान्त पंचदशी चित्रदीपप्रकरण श्लोक १, २, ३, ४, ५)

अर्थ— जैसे किसी चित्रपट नाटयशालाकी जवनिका पर अर्थात नाटकके परदे पर नाना प्रकारके चित्र बने देखपडते हैं तिस चित्र-पटकी जैसी चार अवस्थाएँ हैं। इसी प्रकार यद्यपि परमात्मा अवस्थाओंसे रहित है तथापि जिज्ञासुओंके बोध निमित्त परमात्मामें चार अवस्थाएं कल्पित कीजाती हैं। जैसे रेखागणितके पढनेवाले बालकोंको विद्या-भ्यासके लिये एक कल्पित विन्दु बनाली जाती है। इसी प्रकार शिष्यों के बोध अवस्था तक वाचारंभण विकारके कारण परमात्मामें अवस्थाओं को मानलेना पड़ता है। सृष्टिको चित्रपटसे उपमा देनेके लिये परमात्मा में भी चित्रपटके समान चार अवस्थाएँ मानली जाती हैं। इसलिये स्वामी विद्यारण्य कहते हैं, कि जैसे चित्रपटमें १. धौत, २. घट्टित, ३. लांछित, ४. रंजित ये चारे अवस्थायें हैं। इसी प्रकार परमात्मामें भी चित्त, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा और विराट् ये चार अवस्थाएं कल्पित कीगई हैं ॥ १, २ ॥ अब पहले चित्रपटकी चारों अवस्थाओंका वर्णन करेते हैं—

१. स्वभावतः जो वस्त्र शुद्ध और उज्वल है उसको धौत कहते हैं।

२. उसमें जो चित्रकारने पहले अन्नादिका चूर्ण अथवा खड़ी मिट्टी इत्यादि लगाकर उसे पोता है उसको घटित कहते हैं।

३. चित्रकारने जब उसपर धीमा-धीमा सूक्ष्म आकार बनालिया तब उसे लांछित कहते हैं ।

४. चित्रकारने काले, पीले और नीले रँगोंको लगाकर उस वस्त्रपर नाना प्रकारकी सूर्त्तियां प्रकट करदीं अर्थात वर्णोंकी पूर्ति करदी तब उस पटकी चौथी अवस्था रंजित कहीजाती है ॥

इसी प्रकार वास्तवमें जब परमात्मा शुद्ध, निर्मल, निर्विकार और मायासे रहित है तब उसकी पहली अवस्थाको चित्त कहते हैं। जब वह शुद्ध-स्वरूप परमात्मा माया-रूप लेपनको स्वीकार करता है तब उसे दूसरी अवस्थामें अन्तर्यामी कहते हैं। जब वह चिदात्मा अपंचीकृत पंच-महाभूतों सहित तथा सूक्ष्म—शरीरोंके समष्टि सहित होता है तब उसे तीसरी अवस्थामें सूत्रात्मा कहते हैं। सो ही शुद्ध परमात्मा जब स्थूलके संग होता है तब उसे विराट् कहते हैं। जैसे चित्रपटमें पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता इत्यादिके चित्र लिखेजाते हैं इसी प्रकार ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त प्राणधारी तथा जितने जड-पदार्थ हैं सब उत्तम, मध्यम भावसे ब्रह्म-रूप चित्तपटके समान वर्त्तमान हैं ॥

इस दृष्टान्तसे ऐसा सिद्ध होता है, कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका अधिष्ठान वह वासुदेव ही है। तो ध्यानयोगका अनुष्ठान करनेवाला योगी जब अपनेको सबमें देखेगा और सबको अपनेमें देखेगा तो उसको अवश्य यह विचार उत्पन्न होगा, कि मैं जो सबमें हूं सो कौन हूं ? और सब भूत जो मुझमें हैं वे क्या हैं ? इन दोनोंका अधिष्ठान तथा महा कारण क्या है ? जब एवम्प्रकार सूक्ष्म-दृष्टिसे विचार करेगा तो अवश्य उसे यह बोध होजावेगा, कि मेरा तथा सर्व भूत मात्रका

अधिष्ठान केवल एक ही वासुदेव भगवान् हैं जिससे इतर अन्य कुछ भी नहीं है । फिर तो अरुन्धती-दर्शन-न्यायसे पहले अपनेको सब में और सबको अपनेमें देखते-देखते उसी सर्वान्तरात्मा वासुदेवको सबमें और सबको उसमें देखने लगजावेगा । जैसे चित्रपटकी रंजित-अवस्थामें जब चित्रकारने एक वनका स्वरूप बनाकरे उसपर एक भयंकर व्याघ्रकी मूर्त्ति बनादी तो अज्ञानी छोटे-छोटे बच्चे देखकर भय-भीत हो कांपने और रोने लगजाते हैं। पर जो बुद्धिमान प्राणी है उस की दृष्टिमें वहां व्याघ्र है ही नहीं केवल पटमात्र है । इसी प्रकार जो अज्ञानी जीव है वह शुद्ध ब्रह्मके पटपर मायाका लेप न जानकर सम्पूर्ण रचनाको जो विराट्-रूपमें देखरहा है सत्य मानकर दुःखी सुखी होता है,रोता है, तथा हंसता है,पर यथार्थ-दृष्टिसे देखनेवाले समाधिस्थ योगीको मायाका विकार न दीखकर शुद्ध ब्रह्म सर्वान्तर्यामी वासुदेव ही देख पडता है । इसलिये योगीको सर्वत्र वासुदेव ही वासुदेव दीख पडता है। अतएव भगवान्ने कहा है, कि जो प्राणी मेरेको सर्वत्र देखता है " सर्वं च मयि पश्यति " और सबोंको मुझमें देखता है वही सच्चा देखनेवाला है ।

अब अर्जुनकी जो यह शंका हुई थी, कि एक प्राणी एक अन्तःकरणमें एक ही समय इन सर्व भूतोंको तथा वासुदेव भगवानको कैसे देख सकता है ? अथवा अपनेको फिर भगवानको सबमें कैसे देख सकता है ? इसका समाधान होगया । क्योंकि देखनेवाला योगी और वासुदेव ये दोनों एक ही हैं । तथा सर्व भूत और वासुदेव भी एक ही हैं । इसी कारण जिसने सर्वभूतोंको अपनेमें देखा उसने

मानों वासुदेव ही को अपनेमें देखा तथा जिसने अपनेको सबमें देखा उसने वासुदेव ही को सबमें देखा। पर भिन्नता जो भासती है वह चित्रपटके व्याघ्रके सदृश अज्ञानी बच्चोंके समान केवल अज्ञानियोंको भासती है। यह बात वेदके महावाक्योंसे, श्रुतिके वचनोंसे और इस चित्रपटके विचारसे सिद्ध कीहुई है। क्योंकि "तत्त्वमसि" "एकोऽहंबहुस्याम" "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "सोऽयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि वाक्योंसे आत्मा और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है। इन दोनोंमें एकता है। इसी कारण भगवानने पहले २९ वें श्लोकमें "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" कहदिया और इस ३० वें श्लोकमें "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति" कहकर अर्जुनके भ्रमको दूर करदिया और इधर "तत्त्वमसि" महावाक्यका अर्थ भी स्पष्ट करदिया।

२९ वें श्लोकमें 'त्वम्' पदका और इस ३० वेंमें 'तत्' पदका व्याख्यान करदिया और साथ-साथ यह भी दिखला दिया, कि हे अर्जुन! जो तू है सो मैं हूं और जो मैं हूं सो तू है ॥

शंका— भगवान् तो इस अध्यामें कर्मकाण्डका वर्णन कररहे हैं। ध्यान योगियोंकी क्रिया बता रहे हैं, फिर यहां तत्त्वमसि जो ज्ञानकाण्डका वचन है तिसे क्यों वर्णन करने लगगये ? क्योंकि अब ही तो मध्यमें सातवें अध्यायसे बारहवें अध्याय तक उपासनाका वर्णन करना है पश्चात् तेरहवें अध्यायसे १८ वें तक ज्ञानका वर्णन करेंगे। उपासनाके वर्णनसे पहले इस महावाक्य तत्त्वमसिके वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी ?

समाधान— जैसे सूर्य्योदयसे पहले अरुणोदय (आकाशमें लालिमा) और अरुणोदयसे पहले ऊषा (आकाशमें श्वेतताई) देख पडती है अर्थात् ऊषाके देखनेसे सोनेवाले परस्पर एक दूसरेको सूर्य्योदयका संकेत करके जगाते हैं और कह पडते हैं, कि उठो! उठो! प्रभात हुआ अब किरणें फूटेंगी। इसी प्रकार भगवान् प्रातः कालकी ऊषाके समान इन दोनों श्लोकोंको कह कर अर्जुनके प्रति ज्ञानका संकेत मात्र करते हैं। क्योंकि कर्मकाण्ड रूप ऊषाके छठवें अध्यायका अन्त होरता है। सातवें अध्यायसे उपासनाकी अरुणाई आरंभ होने वाली है जो १२ वें अध्याय तक प्रफुल्लित होगी। तिसके पश्चात् १३ वें अध्यायसे १८ वें तक ज्ञानका सूर्य्य अवश्य प्रकाश करेगा। इसलिये कर्मकाण्डरूप ऊषाके अन्त होते-होते " मां पश्यति सर्वत्र " कहकर भगवान् उपासनाकी अरुणाईका संकेत कररहे हैं और इन श्लोकों द्वारा तत्त्वमसिका बोध कराते हुए आगे ज्ञानके सूर्य्यका उदय होनेका मानो संकेत कररहे हैं। शंका मतकरो!

अब भगवान् कहते हैं, कि उक्त प्रकार जो प्राणी मुझको सर्वत्र और सबको मुझमें देखता है [तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति] उसके लिये मैं नाश नहीं होता अर्थात् परोक्ष नहीं हूं, वरु प्रत्यक्ष हूं, सदा उसके सामने हूं और वह मेरे लिये नाश नहीं होता अर्थात् परोक्ष नहीं है वरु प्रत्यक्ष है अर्थात् सदा वह मेरे सामने है। क्योंकि उसने अपने योगबलसे मुझे साक्षात्कार किया है। श्रुतिः— " तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् " (श्वेता० अ० ६ श्रु० १२ में देखो)

अर्थ— तिस सर्वात्मामें स्थिर वासुदेवको जो धीर देखते हैं अर्थात् साक्षात्कार करते हैं उन्हींको अत्यन्त सुखकी प्राप्ति होती है अन्यको नहीं।

सच है ! जिसके सामने आठों प्रहर भगवान् वर्त्तमान रहें उसके सुखकी सीमा कौन बता सकता है ? भगवान् कहते हैं, कि जैसे मैं उसके सम्मुख सदा वर्त्तमान रहता हूँ ऐसे ही वह प्राणी भी मेरे सामनेसे कभी भी विलग नहीं होने पाता। इसीलिये भगवान् चौथे अध्यायके ११ वें श्लोकमें कह आये हैं, कि "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**" अर्थात् जो मेरे सम्मुख है मैं उसके सम्मुख हूं और जो मुझसे विमुख है मैं भी उससे विमुख हूं। श्रुतिः— "**स एनं विदितान् भुनक्ति**" अर्थात् यद्यपि परमात्मा विमुख प्राणीके भी साथ-साथ है तथापि जीवके स्वयं विमुख होनेसे परमात्मा उसको जन्म मरण रूप संसारके क्लेशसे नहीं रक्षा करता है। जैसे किसीके घरमें पुष्कल द्रव्य हीरा रत्न गडा हो और उसीपर बिछावन करके सोरहा हो पर उस द्रव्यको नहीं जानता हो तो उससे उसकी रक्षा नहीं होसकती।

टिप्पणी— गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं, कि " जगसे छत्तिस (३६) हो रहो रामचरण छौ तीन (६३)। यह सिखावन देत है, तुलसी परम प्रवीन "

अर्थ- जैसे ३६ के अंकमें तीन और छै के अंकोका पीठसे पीठ मिल रहता है। इसी प्रकार इस माया रचित प्रपंचसे तो तुम पीठसे पीठ मिलाए रहो! और श्री रामके चरणोंमें ६३ तिरसठ अंकके समान मुखसे मुख मिलाये रहो! अर्थात उनके सम्मुख रहो तो वे भी अवश्य तुम्हारे सम्मुख रहेंगे।

२६ वें श्लोकमें जो अर्जुनको शंका हुई थी, कि एक अन्तःकरणमें सर्वभूत तथा परमात्मा दोनोंका एकबार कैसे समावेश होसकता है ? तिस शंकाकीनिवृत्ति श्यामसुन्दरने फिर यहां इस ३० वें श्लोकमें भी पूर्णरूपसे करदी। क्योंकि जब सब भूतमात्रको अपना स्वरूप ही कह दिया तो मानो भूतमात्रको अपनेमें देखना अथवा उस वासुदेवको अपनेमें देखना एक ही बात है इन दोनोंमें कुछ भेद नहीं ॥ ३० ॥

अब भगवान अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि जो प्राणी भूतमात्रको मेरा स्वरूप जानकर अपनेमें और अपनेको सर्वभूतोंमें वा मुझमें देखता है उसे सर्व प्रकारके व्यवहारोंको करते हुए भी कुछ हानि नहीं होती। वह सदा मुक्त रहता है—

मू०— सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥३१॥

पदच्छेदः— यः (साम्यदर्शी योगी) सर्वभूतस्थितं (सर्वेषु भूतेष्वधिष्ठानतया स्थितम्) माम् (वासुदेवम्) एकत्वम् (अत्यन्ताभेदम् जीवब्रह्मणोरैक्यम्) आस्थितः (सम्यग् परोक्षी कृत्वा आश्रितः) भजति (निर्विकल्पेन समाधिना सेवते) सः, योगी सर्वथा (सर्वप्रकारेण याज्ञवल्क्यादिवत्कर्मत्यागेन वा वसिष्ठजनकादिवद्विहितकर्मणा वा दत्तात्रेयादिवन्निषिद्धकर्मणा वा) वर्त्तमानः (व्यवहारमानः संसारयात्रामनुवर्त्तनशीलः) अपि मयि (ईश्वरे) वर्त्तते (न मत्तश्च्युतो भवतीत्यर्थः) ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(यः) जो सम्यग्दर्शी योगी (सर्वभूतस्थितम्) सर्व भूतोंमें अधिष्ठान-रूपसे रहनेवाला जो (माम्) मैं तिसको (एकत्वम्) अभेद-रूपसे (आस्थितः) आश्रय करके अर्थात् मुझही में टिककर (भजति) मुझहीको सेवन करता है (सः, योगी) सो योगी (सर्वथा) सर्व प्रकारसे (वर्त्तमानः, अपि) संसारी व्यवहारोंमें लिपटा हुआ भी (मयि) मेरे ही स्वरूपमें (वर्त्तते) वर्त्तमान रहता है अर्थात् मेरेको सर्वत्र देखनेके कारण सब व्यवहार करता-हुआ भी मुझ ही में लगा रहता है। नष्ट होकर दुःखी नहीं होता। मुक्त स्वरूप होजाता है ॥ ३१ ॥

भावार्थः—पूर्व श्लोकमें जो सर्वभूतोंके साथ भगवत्ने अपनी एकता दिखाई है अब उसीको दृढ करते हुए तथा उसका फल वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्व मास्थितः**] अर्थात् मैं जो सर्वभूतोंमें स्थित होकर सबका अधिष्ठानरूप हूं तिसे जो सम्यग्दर्शी योगी सबसे अभेद जानकर सेवन करता है वही नित्य मुक्त होनेका अधिकारी है। जैसे **चित्रपटपर** नाना प्रकारके जो चित्र देखपडते हैं उनका अधिष्ठान चित्रपट ही है। इसी प्रकार सर्वभूतोंका अधिष्ठान मैं ही हूं क्योंकि सब जड चेतन मेरे आश्रय स्थित हैं। मुझसे भिन्न एक तृणमात्र भी कहीं नहीं है। सब भूतोंमें सत्तारूपसे तथा स्फुरणारूपसे मैं ही स्थित हूं। इसलिये सब मेरे ही अंग हैं क्योंकि सबका अन्तरात्मा मैं ही हूं। जैसे प्राणात्माके विलग होनेसे शरीर कुछ भी नहीं करसकता। इसी प्रकार यदि मैं अपनी सत्ताको निगलजाऊं अर्थात् अपनेमें करलूं तो विश्वमात्रका लोप होजा-

वेगा । जैसे अष्टपद (मकरा) अपने ही शरीरसे सूतको निकाल चारों ओर फैलादेता है फिर उसको निगलजाताहै । इसी प्रकार मैं अपनी सत्ताको अपनेसे निकाल विराट् बनाकर फैलादेता हूं फिर अपनेमें उस सम्पूर्ण विराट् (विश्व) को निगलजाता हूं तब प्रलय होजाता है। कुछ भी दृश्य नहीं रहता । इसलिये आकाश, पृथ्वी, सूर्य्य, चन्द्र, वायु इत्यादि सबका कारण, सबका आधार, सबका आश्रय, सबका अधिष्ठान और सर्वान्तरात्मा, मुझहीको कहना चाहिये । यथा श्रुतिः—

" ॐ अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥" (मुण्ड० २ खं० १ श्रु० ४)

अर्थ— यह प्रथम ❀ अग्निकुण्ड जो स्वर्गलोक सो विराट्का मस्तक है, सूर्य्य और चन्द्र नेत्र हैं, दशों दिशाएं कान हैं, वेद जिसके वचन हैं, वायु जिसका प्राण है, सम्पूर्ण विश्व जिसका हृदय है और पृथ्वी जिसके पदोंसे उत्पन्न है अर्थात् पृथ्वी जिसका पद है। एवम्प्रकार यह परमात्मा सर्वान्तर्यामी वासुदेव " सर्वभूतान्तरात्मा " सर्व भूतमात्रका अधिष्ठान है ।

भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि एवम्प्रकार जो योगी मुझको सर्वभूतस्थित जानकर भजता है अर्थात् प्रत्येक डाल

❀ " असौ वा व लोको गौतमाग्निः " इस छान्दोग्योपनिषत्के वचनानुसार प्रथम अग्निकुण्ड यह स्वर्गलोक है । इसलिये यहां अग्निको विराट्का मूर्द्धा अर्थात् मस्तक कहा ।

पातमें, नदी नालेमें, छोटे बडेमें, भले बुरेमें, ऊंचे नीचेमें, साधु चोरमें, जड चेतनमें, राक्षस देवतामें, शीत उष्णमें, प्रकाश अन्धकारमें, विद्या अविद्यामें, हानि लाभमें, हर्ष शोकमें और जागृति वा निद्रामें मुझ वासुदेवहीको देखता है। एक सुईकी नोंकमात्र भी मुझसे भिन्न नहीं देखता, सब ठौरमें मेरेहीको भजता है वही नित्य मुक्त है। किस प्रकार भजता है? सो कहते हैं— "एकत्वमास्थित:" अर्थात् इन सबोंको और मुझको एक जानताहुआ भजता है। अथवा यों अर्थ करलो, कि मुझ एकहीको सर्वत्र सब वस्तुओंमें देखताहुआ मेरेही आश्रय रहता है, मुझ एकको छोड अन्य किसी देव देवीका आश्रय नहीं करता उसीको एकत्वमास्थित कहते हैं।

भगवान् कहते हैं, कि जो योगी सम्यग्दर्शी होकर सर्वभूतोंमें मुझको स्थित जानकर एकतामें स्थिर हुआ है, जिसने द्वैतप्रपंचके सब भेदोंको हटादियां है अर्थात् जीव ब्रह्ममें भेद न समझकर अपनेको भी मेराही रूप जाना है, जिसने अपनेको "अहं ब्रह्मास्मि" वाचकका वाच्यरूप समझा है, ऐसे जो विश्वमात्रमें मेरेहीको देखरहा है [सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते] सो योगी सर्व अवस्थाओंमें वर्त्तमान रहताहुआ भी मेरेहीमें लगारहता है। अर्थात् प्रपंचका सारा व्यवहार करताहुआ भी मेरेमें स्थित रहता है। भगवान्के कहनेका अभिप्राय यह है, कि चाहे वह शुकदेव और जडभरतके समान सब छोड छाड निर्द्वन्द्व विचरता रहे, चाहे वशिष्ठ और भरद्वाजके समान अथवा जनकके समान अग्नि-होत्रादि कर्मोंको

करता रहे, चाहे *दत्तात्रेयके समान निषिद्ध कर्मोंमें वर्त्तमान रहे, चाहे संसारके सर्वव्यवहारोंको नीतिपूर्वक करता रहे पर ऐसे करताहुआ भी वह प्राणी सर्वेश्वर वासुदेवके स्वरूप ही में वर्त्तमान रेहता है। ऐसा निश्चय है।

"कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपौ जनकराघवौ।
वशिष्ठः कर्मकर्त्ता च पंचैते ज्ञानिनः समाः"॥

इस बचनसे सिद्ध होता है, कि कृष्ण भोगीका आचरण, शुकदेव त्यागीका आचरण, जनक और रामचन्द्रजी राजाका आचरण और वशिष्ठ कर्मकाण्डियोंका आचरण दिखलाते हुए ये पांचो एक समान थे अर्थात मुक्त-स्वरूप थे कुछ नहीं करते थे।

भगवान् इस श्लोकमें एकत्वको दिखला रहें हैं और निश्चय करा रेहे हैं, कि ऐसा भेद रहित होकर एकताका देखने वाला योगी ही मेरे यथार्थ-स्वरूपमें बर्त्तता है। ऐसा योगी कभी मेरेसे च्युत नही होता और ऐसे प्राणीके मोक्षमें देवता, देवी, राक्षस, गन्धर्व इत्यादि कुछ भी बाधा नहीं करसकते। श्रु०— तस्य इन देवाश्च ना भूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति" अर्थात ऐसे योगीको इन्द्रादि देव कुछ भी बाधा नहीं करते। क्योंकि वह योगी इन देवताओंका आत्मा होजाता

* दत्तात्रेय रागद्वेषके कारण अथवा विषय भोग वा किसी स्वार्थकी इच्छासे निषिद्ध कर्मोंको नहीं करते थे वे तो केवल जनसमुदायकी भीडभाडसे बचनेके लिये निषिद्ध कर्मोंको स्वीकार कियेहुये थे।

है । फिर तो यह स्वाभाविक है, कि कोई अपने आत्माको हानि नहीं पहुंचाता । जब इन्द्रादि देव ही उसको बाधा नहीं करते तो और क्षुद्र जीवोंकी क्या गणना है ? चाहे वह प्राणी सहस्रों व्याघ्र तथा सर्प इत्यादि क्रूर जीवोंके बीचमें क्यों न बैठा हो, कोई इसे दुःख नहीं देसकता । येह सब परस्परके वैर विरोधको छोड उसके सहायक होजाते हैं । क्योंकि व्याघ्र, सर्पादिमें भी उसने सर्वान्तरात्मा वासुदेवहीको देखा है। इसलिये किसी प्रकारका विघ्न उसको नहीं सताता ।

प्रमाण— " तथा न ते माधव! तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः । त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो ! " (श्रीमद्भा० स्कं० १० अ० २ श्लो० ३३)

अर्थ— हे माधव ! जो लोग तुम्हारे होकर सर्वत्र तुम्हीको देखते हैं, वे कभी अपने यथार्थ-मार्गसे भ्रष्ट नहीं होते । अर्थात् नीची गतिको प्राप्त नहीं होते वरु इसके प्रतिकूल तुमहीसे सदा रक्षित होकर नाना प्रकारके विघ्न और उपद्रवरूप सेनाके सेनापतिके मस्तकपर पांव रखे हुए निर्भय विचरते हैं ।

इसी कारण भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्दसे इस श्लोकमें कहते हैं, कि जो योगी सर्वत्र सब भूतोंमें मुझहीको देखता है और एक मुझहीको जानता है सो सब व्यवहार करता हुआ भी मेरेही स्वरूपमें निर्भय और निर्द्वन्द्व हो अवस्थित रहता है ॥ ३१ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जिन ध्यानयोगियोंकी तुम ऐसी स्तुति कररहे हो उनमें सबसे उत्तम कौन है ? जिसे परमयोगी कह सकते हैं सो कृपा कर कहो !

आनन्दकन्द मुसुकुराते हुए बोले—

मू०— आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२

पदच्छेदः— अर्जुन ! (हे धनंजय !) यः (सम्यग्दर्शननिष्ठो योगी) सर्वत्र (सर्वभूतेषु) आत्मौपम्येन (आत्मदृष्टान्तेन) सुखम् (इष्टम्) यदि, वा, दुःखम् (अनिष्टम) समम् (स्वपरदुःख-सुखादिषु तुल्यम्) पश्यति (अवलोकयति) सः (रागद्वेषरहितः। प्रशान्तात्मा) योगी (सम्यग्दर्शननिष्ठो योगी) परमः (सर्व योगि-नां मध्ये श्रेष्ठः) मतः (मान्योऽस्ति) ॥ ३२ ॥

पदार्थः— (अर्जुन !) हे अर्जुन ! (यः) जो सम्यग्दर्शी योगी (सर्वत्र) सब भूतोंमें अर्थात् प्राणीमात्रमें (आत्मौपम्येन) अपने आत्माके ऐसा (सुखम्) सुखको (यदि वा) अथवा (दुःखम्) दुःखको (समम्) समान (पश्यति) देखता है (सः) सो (योगी) योगी (परमः) सब योगियोंमें श्रेष्ठ (मतः) मानने योग्य है ॥ ३२ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो यह प्रश्न किया था, कि योगियोंमें कौन योगी श्रेष्ठ है ? इसका उत्तर देतेहुये भगवान् गोलोकविहारी जगत-

हितकारी कहते हैं, कि [आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन! सुखं वा यदि वा दुःखम्] जो योगी अपने आत्माके समान सब प्राणियोंमें सुख वा दुःखको समान भावसे देखता है अर्थात् जैसे नाना प्रकारके संसृतक्लेशोंको अपने साथ अनिष्टरूपसे देखता है और सुखोंको इष्ट-रूपसे देखता है इसी प्रकार औरोंके दुःख सुखको भी देखता है वही योगी श्रेष्ठ है।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे अपने किसी अंगके कटजानेसे वा अपने शिरमें चोट लगजानेसे तथा अपने गृहमें आगलग जानेसे वा अपने शरीरमें ज्वरादिकी व्यथा होनेसे अथवा अपने ऊपर किसी दैवी-उत्पातके उपस्थित होनेसे प्राणी दुखी होता है। तथा राज्यके मिलजानेसे, वा पुत्र उत्पन्न होनेसे जैसे सुखका अनुभव करता है। इसी प्रकार जो दूसरोंके भी दुःख सुखको देखता है [स योगी परमो मतः] सो समरूपसे देखनेवाला योगी अन्य सब योगियोंमें श्रेष्ठ मानागया है।

शंका— पहले तो भगवान् इसी अध्यायके श्लोक २२ में कह आये हैं, कि "न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते" जिस अवस्थामें अत्यन्त असह्य दुःख वा आपत्तिके उपस्थित होनेसे भी योगी अपने स्थानसे चलायमान नहीं होता तिस अवस्थाको सुख-दुःखसे रहित योग-शब्द-वाच्य जानो! और अब कहते हैं, कि "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति" अर्थात् सुख वा दुःखको जो सर्वत्र सब प्राणियोंमें अपने आत्माके समान देखता है वही योगी है। इससे तो यह अर्थ

निकलता है, कि जैसे दुःखपडनेसे आप दुःखी नहीं होता इसी प्रकार दूसरोंको भी दुखमें पडेहुए देख दुखी न जाने। जब दुखी नहीं जानेगा तो दयादृष्टिसे उनके दुःखके दूर करनेका यत्न क्यों करेगा ? क्योंकि जबतक उस दुःखकी कठोरता प्राणी स्वयं नहीं अनुभव करेगा, तबतक उसे दूसरेपर दया नहीं आवेगी, न किसीका उपकार करेगा । फिर आत्मौपम्येन कहनेसे क्या लाभ ?

समाधान— यद्यपि योगी स्वयं भगवत्के प्रथम उपदेशके अनुसार घोर दुःखसे स्वयं दुःखी नहीं होता परे जिस समय योगप्राप्तिसे पहले अपने गृहस्थाश्रममें अथवा ब्रह्मचर्य्याश्रममें था और साधारण व्यक्ति था उस समय तो बार-बार दुःख सुखका अनुभव करचुका है । इसलिये दुःखकी स्मृति तो उसके अन्तःकरणमें बनीहुई है । जैसे प्रसूतिका स्त्रीके बच्चा जननेके दुःखको देखकर अन्य पुत्रवतीको दुःखकी स्मृति होआती है । इसी प्रकार योगी भी जब जीवोंको नाना प्रकारके संसृत-बन्धनोंमें दुःख पातेहुए देखता है तब अपने दुःखकी पूर्वस्मृतिसे उसे दया आती है और प्राणीके संसृत-क्लेशोंके दूरकरनेकी चिन्तामें लगता है । तब जानना चाहिये, कि इस योगीने सबोंको अपने आत्माके समान देखा है । फिर तो उस योगीको ऐसी दया उत्पन्न होगी, कि अपने जीवनभरके योगबलकी कमायीहुई सारी पूंजीको भी उसके उपकारमें लगादे तो आश्चर्य्य नहीं । जैसे विश्वामित्रने राजा त्रिशंकुको स्वर्ग भेजनेमें अपने सैकडों बर्षोंका तपोबल व्यय करदिया। ऐसा योगी अपने शरीरपर कष्ट सहकर भी परायेका उपकार करता है ।

देखो ! श्री दधीचि महाराजने तपकरते समय अपनी जंघाकी हड्डी काट-कर उपकारमें देदी ।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि यद्यपि योगी आप कठोर एवं दारुण दुःखसे भी चलायमान नहीं होता तथापि दूसरेके दुःखको देखकर अवश्य द्रवता है। क्योंकि उस समय उसको उस क्लेशकी स्मृति होआती है। इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि सब जीवोंके दुःखको जो अपने समान देखता है अर्थात् जैसे दुःखसे अपनेको उद्धार किया था, इसी प्रकार दूसरेको भी उद्धारकरनेमें उद्यत होजाता है । ऐसा योगी (**परमो मतः**) सब योगियोंमें श्रेष्ठ माना जाता है । यहां शंका मतकरो ! लो और सुनो—

गोस्वामी तुलसीदासजी भी लिखते हैं, कि " सन्त हृदय नवनीतसमाना । कहा कविन पै कहे न जाना ॥ निज दुख पाथि द्रवै नवनीता । पर दुख दुखी सुसन्त पुनीता " अर्थात् कवियोंने ऐसा कहा, कि सन्तोंका हृदय नवनीतके समान कोमल होता है पर कहने नहीं जाना क्योंकि नवनीत (मक्खन) तो केवल अपने दुःख को पाकर पिघलता है पर सन्त परायेके दुःखको पाकर पिघलता है । इसलिये ऐसे सन्तको परम श्रेष्ठ मानना चाहिये । यही भगवानका तात्पर्य्य है । इसी कारण भगवानने **आत्मौपम्येन** कहा और ऐसा जो कहा, कि **स योगी परमो मतः** ऐसा योगी श्रेष्ठ है सो केवल योगियों ही में श्रेष्ठ नहीं है वरु सर्व प्रकार महा पुरुषोंमें श्रेष्ठ है, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसीका है । यथा श्रुतिः— " **ॐ स वा एष एवं**

पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्मा मिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति ”

अर्थ— सो योगी एवम्प्रकार सर्वत्र आत्मोपमासे देखता हुआ सबको अपने समान अवलोकन करताहुआ तथा मनन करता हुआ, जानता हुआ (आत्मरति) अर्थात् आत्माहीके विषय है रति जिसकी अथवा आत्माहीके साथ है चित्तका अनुसन्धान जिसका तथा (आत्मक्रीड) आत्माहीके साथ है क्रीडा जिसकी अर्थात् जैसे विषयी पुरुष स्त्रीके साथ क्रिडा करता है, रमता है और अहर्निशि उसीमें वृत्तिको बांधता है। इसी प्रकार आत्माहीके साथ जो सर्वत्र, सब कालमें, सबको अपनाही आत्मा देखता हुआ अत्यन्त प्रिय जान विहार करता है, अपनी आत्मसत्ताके साथ संप्रज्ञात वा असंप्रज्ञात समाधि-रूपी अपनी वशवर्त्तिनी स्त्रियोंके साथ एकान्त स्थानमें विहार करता, है तथा जो आत्ममिथुनका आनन्द लेता है अर्थात् आत्माके संगका सुख अनुभव करता है ऐसा योगी सबोंमें श्रेष्ठ होता है यहां तक कि स्वराड्भवति जैसे चक्रवर्त्ती राजाको सर्वत्र सबको अपने अधीन रखनेका सुख होता है इसी प्रकार इस योगीको मानो स्वराड्की पदवी प्राप्त होती है। सप्तलोक ऊपर और सप्तलोक नीचेको आपने अधीन रखनेका आनन्द अनुभव करता है तथा ऐसे प्राणीकी सर्व कामनाऐं पूर्ण होजातीं हैं, जैसी इच्छा हो करसकता है इसी कारण भगवान् ऐसे योगीको सबोंमें श्रेष्ठ मानते हैं ॥ ३२ ॥

इतना सुन ऐसे योगकी कठिनता तथा मनकी चंचलता अनुभव कर अर्जुन भगवान्से प्रश्न करता है—

अर्जुन उवाच ।

मू०—योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ! ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥
॥ ३३ ॥

पदच्छेदः— मधुसूदन ! (हे कृष्ण ! हे चित्तस्य चंचलत्वरूपस्य मधुनाम्नः दैत्यस्य प्राणनाशनसमर्थ) साम्येन (समत्व लक्षणेन चित्तगतानां रागद्वेषादीनां विषमदृष्टिहेतूनां निराकरणेन) यः, अयम्, योगः (सर्वत्र समदृष्टिलक्षणः परमो योगः लयविक्षेपशून्यतया केवलात्माकारावस्थानरूपो योगः) त्वया (सर्वज्ञेनेश्वरेण) प्रोक्तः (वर्णितः) चंचलत्वात् (मनसः चपलत्वात्) एतस्य (त्वदुक्तस्य सर्ववृत्तिनिरोधरूपस्य योगस्य) स्थिराम् (निश्चलाम । दीर्घकालानुवर्त्तिनीम) स्थितिम् (अवस्थानम) अहम्, न (नैव) पश्यामि (अवलोकयामि । संभावयामि । उपलभे) ॥ ३३ ॥

पदार्थः— भगवान्ने जो श्लो० १० से श्लोक ३२ पर्यन्त परम योगका वर्णन किया उसे सुन अर्जुन भगवान्से कहता है, कि (मधुसुदन !) हे चित्तके चंचलत्वरूप मधुनामा दानवके नाशकरनेवाले (साम्येन) समतासे युक्त सब प्राणियोंपर समान दृष्टि रखने वाले योगीका (यः) जो (अयम् योगः) यह योग

(त्वया) तुम्हारे मुखारविन्दसे (प्रोक्तः) वर्णन हुआ सो (चंच-लत्वात) मनके अत्यन्त चंचल होनेके कारण (एतस्य) इस योग की (स्थिराम) निश्चलरूपा (स्थितिम्) स्थितिको (अहम्) मैं (न) नहीं (पश्यामि) देखता हूं अर्थात् अपने चित्तकी चंचलताके कारण इसका योगसदा एकरस वर्त्तमान रहना मुझे असंभव जान पडता है ॥ ३३ ॥

भावार्थः— भगवान्ने जो श्लोक १० से श्लो० ३२ तक परम मंगलदायक ध्यानयोग अर्थात् अष्टांग योगका महत्व वर्णन करते हुए अन्तमें कहा, कि सर्व प्राणियोंपर समान दृष्टि रखकर मनको स्थिर रखनेवाला योगी श्रेष्ठ समझा जाता है । इस वचनको सुनकर अर्जुन भगवान्से तिस योगके शीघ्र सिद्ध करनेका उपाय प्राप्त करने के तात्पर्यसे शंका करता हुआ कहता है, कि [**योऽयं योगस्त्वया-प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन !**] हे चित्तके चंचलस्वरूप मधुदा-नवके नाश करनेवाले ! अथवा मधु जो साधारण जीवोंके लिये अत्यन्त मीठा जो विषय-रस तिसे दूर करदेने वाले अथवा मधु जो अमृत कैवल्य परमपद तिससे भक्तोंके हृदयको सींचने वाले ! अथवा मधुजो प्रेमरस तिसकी उत्तेजना करनेवाले ! अथवा मधुमती बुद्धिकी प्रेरणा करनेवाले ! हे मधुसू-दन ! यह जो तुमने समत्व लक्षणसे युक्त अर्थात् शत्रु, मित्रमें, कीडे मको-

---

टि०—'सूद' इसके अनेक अर्थ हैं जैसे-- सींचना, खाना, एकत्र करना, नाश करना, स्वीकार करना, उत्पन्न करना, उत्थापन करना, प्रेरणा करना, उत्तेजना करना इत्यादि ॥

डेमें, पशु पक्षियोंमें, राक्षस देवताओंमें तथा सम्पूर्ण विश्वके जीवोंमें राग द्वेष रहित होकर एक समान दृष्टिसे अपने आत्माके तुल्य दुःख सुखको देखनेवाला जो यह योग तुम्हारे कोमल मुखारविंदसे वर्णन कियागया जिसकी तुमने बारम्बार अपने मुखसे स्तुति की है और यों कहा है, कि ऐसा समदर्शी योगी सर्वोत्तम और सबोंमें श्रेष्ठ होता है तिस तुम्हारे कथनकिये योगमें मुझे अपनी मूर्खताके कारण यह शंका होती है, कि इसका पालन करना मुझ ऐसे मन्दमतियोंसे कदापि नहीं होसकता। क्योंकि [एतस्याहं न पश्यामि * चंचलत्वात् स्थितिं स्थिराम्] इस मनके चंचल होनेके कारण इस तुम्हारे कथन कियेहुए योगकी निश्चल-स्थिति अर्थात् पूर्णरूपसे सदा सर्वकालमें इसका प्राणियोंमें स्थिर रहना, चित्तपरे इसके प्रभावका दृढ रहना तथा सदा एक-रस रहना नहीं देखताहूं। मेरी बुद्धिमें यह बात नहीं समाती, कि इस प्रकारका योग सदा प्राणीके हृदयमें स्थिर रहसकता है। इस कारण हे भगवन्! जब मैं तुम्हारे उपदेशका मनन करने लगजाताहूं, इस तुम्हारी शिक्षाको ग्रहण करनेका उत्साह करता हूं और चाहता हूं, कि तुम्हारे उपदेशानुकूल आचरण करूं तब उधर यह स्मरण होआता है, कि यह दुष्ट मन अत्यन्त चंचल है, यह कुछ करने नहीं देगा। क्योंकि यह मन कैसा चंचल है? सो मैं तुम्हारी ही शिक्षानुसार तुमसे वर्णन करता हूं सुनो! ॥ ३३ ॥

* चंचलम्—चंचं गतिं लातीति चंचलम्। अस्थिरम्।

अ०— चंचलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि वलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४

पदच्छेदः— कृष्ण ! (भक्तजनपापाकर्षणसमर्थः तस्य सम्बोधने) मनः (अन्तःकरणम्) हि (इति निश्चयेन) चंचलम् (स्वभावेनैव चपलम्) प्रमाथि (प्रकर्षेण मथ्नाति विक्षिपति परवशीकरोति देहेन्द्रियादीनि यत्) वलवत् (विचारेणापि जेतुमशक्यम् । केनाप्युपायेन विषयान्निवारयितुमशक्यम) दृढम (नागपाशवदच्छेद्यम् विषयवासनानुवद्धतया दुर्भेदम्) [तस्मात] अहम् (मन्दमतिः) तस्य (मनसः) निग्रहम् (निरोधम्) वायोः, इव, सुदुष्करम् (वशीकर्त्तुमशक्यम् । अतिकष्टतरम् वा) मन्ये (स्वबुद्ध्या जानामि) ॥ ३४ ॥

पदार्थः— (कृष्ण !) हे भक्तोंके पापके आकर्षण करने वाले श्री कृष्ण ! (मनः) यह मन (हि) निश्चय करके (चंचलम्) स्वभावसे ही अत्यन्त चंचल है चंचलही नहीं किन्तु (प्रमाथि) देह और इन्द्रियोंको प्रमथन करने वाला अर्थात् विक्षिप्त करदेनेवाला है तथा (वलवत्) अत्यन्त बलवान् किसी प्रकार रोकनेसे नहीं रुकता फिर कैसा है, कि (दृढम्) जैसे नागपाशका बन्धन अत्यन्त दृढ़ होता है ऐसा दृढ़ है इसलिये (अहम्) मैं मन्दमति अर्जुन (तस्य) तिस मनके (निग्रहम) निरोधको (वायोः) बलवान् वायुके (इव) निरोध-करनेके समान (सुदुष्करम) अत्यन्त कठिन (मन्ये) मानता हूं ॥ ३४ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें जो अर्जुनने मनकी चंचलताके कारण योगकी स्थितिमें शंका की है उसी तात्पर्य्यको इस श्लोकमें भगवानके सम्मुख विस्तारकर कहता है, कि [**चंचलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम्**] हे कृष्ण ! तुम भक्तजनोंके पापको तथा उनके हृदयकी शंकाओंको खींचलेनेमें समर्थ हो इसलिये कृष्ण कहेजाते हो ! अतएव मुझे पूर्ण आशा है, कि तुम अवश्य अपने इस परम भक्त अर्जुनके हृदयकी शंकाको भी अपने अमृतमय मधुर वचनों द्वारा खींचलोगे ! इस कारण तुम्हारी शरण होकर मैं यह शंका करता हूं, कि हे कृष्ण ! स्वभावसे ही यह मन वानरके समान अत्यन्त चंचल है, स्थिर नहीं रहता । फिर यह सिद्धान्त है, कि जबतक कोई द्रव्य वर्त्तमान है तबतक उसके स्वभावका नाश नहीं होता । जैसे अग्निके वर्त्तमान रहते उसकी दाहिका शक्तिका नाश नहीं होसकता इसी प्रकार जबतक शरीरमें मन है तबतक इसके स्वभावका नाश नहीं होसकता। यह मन चंचल ही नहीं वरु **प्रमाथि** है, **बलवत्** है और दृढ भी है। अर्थात इनके उक्त चारों अवगुणोंमें तीन अवगुण अधिक क्लेशकारक हैं । प्रथम अवगुण तो यह है, कि **प्रमाथि** है अर्थात् शरीर और इन्द्रियोंको प्रमथन करडालता है । जैसे ग्वाला दूधको मथन करके उसको टुकटे-टुकटे करदेता है, जैसे धुनेरा रुईको धुनकर छिन्नभिन्न करडालता है तथा जैसे गुड बनाने वाले इक्षुदण्ड (गन्ना) को कोल्हूमें पीसडालते हैं । इसी प्रकार यह मन सब इन्द्रियोंको विषयके कोल्हूमें इस प्रकार पीस डालता है, कि कोटि यत्न करते हुए भी इसपर अपना वश कुछ नहीं चलता है ।

हे जनार्द्दन ! यदि तुम यह कहो, कि ऐसे प्रमथन करने वाले मनको तू अपने वश करले ! सो मैं कैसे करूं ? क्योंकि इसका दूसरा अवगुण यह है, कि बलवत् है अर्थात् अत्यन्त बलवान है। जब यह बलपूर्वक विषयकी ओर दौडता है तब यह किसी यत्नसे रोके नहीं रुकता, ब्रह्मासे लेकर चींटीपर्य्यन्त कोई इसके वेगके रोकनेमें समर्थ नहीं है। इसी मनके बलवान वेगने अहिल्याके कारण इन्द्रके शरीरमें सहस्र भगका आकार बनवा दिया, चन्द्रमाको गुरु-पत्नीसे गमन करवा आततायी बना दिया तथा नारदको बानरका मुंह दिलवा दिया। एवम् प्रकार अनेकानेक उपद्रवोंको उपस्थित करने वाला यह मन अत्यन्त बलवान् है, इसलिये इसे कोई जीत नहीं सकता। केवल इतना ही नहीं, कि बलवान् ही है वरु इसका तीसरा अवगुण यह है, कि 'दृढम्' अनेक जन्मोंके संस्कारोंसे बंधाहुआ अपने स्वभावमें परम दृढ है। जैसे कोई बीर अपने शत्रुको युद्धमें नागफांससे बांधलेवे तो वह बन्धन इतना दृढ होता है, कि किसी उपायसे टूट नहीं सकता। इसी प्रकार यह मन बलपूर्वक इतनी दृढताके साथ प्राणीको विषयके फांससे बांध देता है, कि वहांसे कोई अपनेको छुडा नहीं सकता। जैसे इस शरीरके रुधिर और अस्थि (हड्डी) के साथ चिपकेहुए चमडेको खैंचो तो उसके साथ-साथ रुधिर भी खिंच जावेगा इसी प्रकार विषयसे चिपके हुए मनके खैंचनेमें प्राणीको अत्यन्त दुःसह क्लेश होता है।

अर्जुनके कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जब यह मन विषयके साथ चिपटता है, तो ऐसी दृढताके साथ सट जाता है, कि फिर

उस विषयको छोडता ही नहीं । इससे यह सिद्ध होता है, कि इसके उक्त तीनों गुण स्वाभाविक हैं ।

अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! इनही कारणोंसे [**तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्**] तिस मनका निरोध करना वायुके निरोधके समान मैं अतिदुष्कर मानता हूं । अर्थात् जैसे वायुका निरोध करना कठिन है, ऐसे ही अत्यन्त कठिनता और बडे प्रबल पुरुषार्थसे भी इस दुष्ट मनका निग्रह करना दुष्कर है । क्योंकि पवन जब अपने वेगमें आता है, तो बिना किसी दूसरे तत्वकी सहायताके ऐसे अन्धर, झक्कर और झंझावातको प्रकट करता है, कि सैंकडों सीलके वृक्षोंको तोडता और जडमूलसे उखाडता चला जाता है, इसका वेग किसी बलवानके रोके नहीं रुकता । इसी प्रकारे जब यह मन अपने पूर्णवेगसे विषयके आकाशमें प्रवाह करता है तब विश्वासके वृक्षोंको, श्रद्धाकी झोंपडियोंको तथा समताकी बडी बडी अटारियोंको गिराता चला जाता है । इसी कारण हे गोविन्द ! समता युक्त योगकी स्थिर स्थितिमें मुझे शंका होती है । अन्य शास्त्रोंमें भी ऐसा ही लिखा है, कि " अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि । अपि वन्ह्यशनात्साधो ! विषमश्चित्तनिग्रहः ॥ " अर्थ— हे साधो ! समुद्रके पान करनेसे, सुमेरुके उखाड देनेसे और अग्निके भक्षण करनेसे भी अधिक कठिन इस मनको वशीभूत करना है ॥ ३४ ॥

अब अर्जुन कहता है, कि हे दयामय ! कृपा कर यह बतलाओ, कि इस मनके जो उक्त चार मुख्य अवगुण हैं ये कैसे छूटेंगे ? और इनके छूटनेसे योगमें स्थिति किस प्रकार होवे ?

श्री भगवानुवाच ॥

मू०– असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५

पदच्छेद:– [हे] महाबाहो ! (महान्तौ साक्षान्महादेवेनापि सह कृतप्रहरणौ बाहू यस्य स त्वमर्जुन !) मनः (अन्तःकरणस्य संकल्पविकल्पात्मिका वृत्तिः) दुर्निग्रहम् (दुःखेनापि निग्रहीतुमशक्यम) चलम् (चंचलम्) असंशयम् (एतन्निःशंसयमेव । सन्देहरहितम् वा) * तु (किन्तु) [हे] कौन्तेय ! (कुन्तीपुत्रार्ज्जुन !) [तत] अभ्यासेन (चित्तभूमौ कस्यांचित् विजातीयप्रत्ययानन्तरितसमानप्रत्ययावृतिलक्षणेन परमात्माकारप्रत्ययावृत्त्या) च (तथा) वैराग्येण (दृष्टादृष्टेषु भोगेषु दोषदर्शनाभ्यासात् वैतृष्ण्यं तेन) गृह्यते (विदितसत्वादिकं त्यक्त्वा निरुध्यते सर्ववृत्तिशून्यं क्रियते) ॥ ३५ ॥

पदार्थ:– (महाबाहो !) हे प्रचण्ड बलयुक्त विशालभुजा वाला अर्जुन ! तू ने जो यह कहा, कि (मनः) यह मन (दुर्निग्रहम्) बडी कठिनतासे भी निग्रह करने योग्य नहीं है तथा (चलम) अत्यन्त चंचल है सो यह तेरी बात (असंशयम) निःसन्देह सत्य है । इसमें तनक भी संशय नहीं है (तु) पर

* अनिग्रहितुरसंयुक्तात्मनः सकाशात्संयतात्मनो निग्रहीतुर्विशेषद्योतनाय "तु" शब्दः ।

(कौन्तेय) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! सो मन (अभ्यासेन) बार-म्बार निरोधका अभ्यास करनेसे (च) तथा (वैराग्येण) सर्व-प्रकार विषय भोगोंको दूषित जानकर त्याग करनेसे (गृह्यते) चंच-लत्वको त्याग कर वशीभूत होजाता है ॥ ३५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने मनके निरोधका यथार्थ उपाय जानने के तात्पर्यसे श्यामसुन्दरके प्रति यह शंका की थी, कि हे भगवन्! मनके चंचलत्वके कारण योगमें **स्थिरा-स्थिति** अर्थात् निश्चलता और दृढताके साथ चित्तका निरोध नहीं होसकता । तिस शंकाके समाधान-निमित्त भगवान् मनके वशीभूत होनेका उपाय वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्**] हे महाबाहो अर्जुन ! इसमें तनक भी सन्देह नहीं, कि यह मन अत्यन्त चंचलत्व इत्यादि अवगुणोंसे दूषित रहनेके कारण किसीके वश नहीं होसकता है । ब्रह्म-लोकसे पाताल पर्यन्त इसकी चरचा है । पृथ्वीमण्डलमें जितने मत-मतान्तर हैं इसके विषय सबोंकी ऐसी ही सम्मति है ।

यहां भगवान्ने अर्जुनको जो **महाबाहो** कहकर पुकारा है तिसका तात्पर्य यह है, कि भगवान्ने यह दिखलाया, कि हे अर्जुन ! तू जो मनको **चंचल, प्रमाथि, बलवत्** और दृढ कहकर इसकी जय करनी कठिन समझता है सो तू ऐसा व्याकुल मत हो ! तू महाबाहु है ! तेरी दोनों भुजाएं महान् बलवती हैं । क्योंकि इन भुजाओंसे तूने निवातकवचका निपात किया तथा युद्धमें शिवके साथ तूने अपनी

भुजाओंकी महिमा दिखलायी । इसलिये जैसे तूने ऐसे कठिन-कठिन रण जीते, ऐसे ही तू इस मनको भी अवश्य जीतेगा ! इतना कहकर मानो भगवान्‌ने अर्जुनके हृदयकी व्याकुलता दूर करनेके तात्पर्यसे उसे पूर्ण सन्तोष दिया । उसके वचनको स्वीकार भी किया और कहदिया, कि हां इसमें सन्देह ही नहीं है, यह मन दुर्निग्रह और चंचल है पर जो पुरुष पराक्रमी है उससे सब कुछ साध्य होसकता है। इसलिये हे अर्जुन ! यद्यपि मन दुर्निग्रह है, पर योगियोंने तथा वेदने भी इसके निग्रह और स्थिर करनेका उपाय कहा है सो मैं तुझसे कहता हूं सुन ! [**अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते**] हे (कौन्तेय !) कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! यह मन केवल उन्हीं महानुभावोंसे जीताजाता है जो वैराग्यको प्राप्त कर मोक्षके साधनका अभ्यास करते हैं । तात्पर्य यह है, कि वैराग्य और अभ्यास इन दोनोंके द्वारा यह मन चंचलताको त्याग निग्रहीत होजाता है ।

सत्य है ! जब तक विषयोंसे वैराग्य नहीं प्राप्त हो तब तक अभ्यास सिद्ध नहीं होसकता और जब तक अभ्यासकी सिद्धि न हो तब तक मन वशीभूत नहीं होसकता, जब तक मन वशीभूत न हो तब तक ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होसकती, जब तक ज्ञान न हो तब तक मोक्षकी प्राप्ति नहीं और जब तक मोक्ष न हो तब तक भगवत्स्वरूपका लाभ नहीं होता। इसलिये सबसे पहले विषयोंसे वैराग्यकी आवश्यकता है सो वैराग्य किसे कहते हैं ? सो सुनो ! " दृष्टादृष्टेषु भोगेषु दोषदर्शनाभ्यासात् वैतृष्ण्यम् " अर्थात् जो विषयभोग दृष्ट हैं अथवा

अदृष्ट है दोनोंका त्यागना वैराग्य कहाजाता है। जैसे संसारमें स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति, राज-पाट इत्यादिके सुख दृष्ट हैं और स्वर्गकी अप्सरा इत्यादि तथा ब्रह्मलोकादिके सुख अदृष्ट हैं। इन दोनोंमें जिस प्राणीको दोष देख पडता है, वही सच्चा त्यागी और सच्चा अभ्यासी है।

शंका— संसृति-विषय-सुख विनशता नहीं है यह तो जबसे सृष्टि है तबसे है और सृष्टि अनादि है। इसलिये इसके अन्तर्गत जो सुख है वह भी अनादि हुआ, फिर इसे आगमापायी क्यों कहते हैं?

समाधान— यह सृष्टि प्रवाहकरके अनादि है, स्वरूप करके अनादि नहीं है, सदा नश्वर है। लो! उदाहरणसे देखलो! मानलो, कि किसी वाटिकामें एक आमका वृक्ष है, जो जडमें चार हाथ मोटा है, और पांचवें हाथकी ऊंचाई पर चार शाखाएं पूरबकी ओर, दो शाखाएं पश्चिमकी ओर, तीन उत्तरकी ओर तथा आठ शाखायें दक्षिणकी ओर निकल गयी हैं, फिर उसमें पांच सहस्र आमके फल लगेहुए हैं। यह उस वृक्षका स्वरूपहुआ। सो स्वरूप अनादि नहीं है। क्योंकि उसी वृक्षके बीजसे जो दूसरा वृक्ष उत्पन्न होगा, उसी रूपका नहीं होगा जैसा, कि पहले था। अर्थात् यह निश्चय नहीं है, कि इसमें भी उतनी ही डाल-पत्तियां हों और पांच हजार ही फल हों। इसलिये इस वृक्षको रूपकरके अनादि कहना नहीं बनता, प्रवाहकरके तो अनादि ही है। क्योंकि वृक्षसे बीज, बीजसे वृक्ष, फिर वृक्षसे बीज बनना तो अनादि है।

इसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति और नाश प्रवाह करके अनादि है स्वरूपकरके अनादि नहीं। इसी कारण विषय-सुख भी प्रवाहकरके अनादि है स्वरूपकरके अनादि नहीं इसीलिये एक व्यक्तिमें वह सुख आगमापायी ही कहाजावेगा। अथवा यों कह लीजिये, कि इस सृष्टिके अन्तर्गत किसी एक व्यक्तिका शरीर आगमापायी है। क्योंकि तिस शरीरके साथ जो इन्द्रियां प्राणकरके बंधीहुई हैं, उस प्राणके विनश जानेसे शरीर और इन्द्रियोंका नाश होजाता है। इसलिये विषय-सुख जो इनही शरीर और इन्द्रियोंसे भोगेजाते हैं वे भी नाश होजाते हैं। अतएव विषय-सुखकी ओर मनको लेकर दौडना जो इन इन्द्रियोंका स्वभाव था सो नष्ट होगया।

अब ये इन्द्रियां न जाने किस शरीरके साथ फिर उत्पन्न होंगी इनका पता कौन कहे? क्योंकि यह संभव नहीं है, कि जो सुख वर्त्तमान शरीरमें उन इन्द्रियोंके सन्मुख था फिर वही सुख उनके साथ दूसरे शरीरमें भी जावे। इसीलिये विषय-सुख आगमापायी कहागया और त्यागने योग्य है।

दूसरा दूषण इन विषय-सुखोंमें यह है, कि जितने विषय-सुख हैं सबके अन्तर्गत दुःख अवश्य हैं। जैसे स्त्री-सुखमें बल, वीर्य्य, रूप और पराक्रमकी हानिका दुःख, पुत्रसुखमें पुत्रशोकका दुःख, धनसुखमें चौर और राजदण्डादिका दुःख, रूप और यौवन-सुखमें बृद्धता प्राप्त होनेका दुःख है। इन दुःखोंको सब ही प्रत्यक्ष देखरहे हैं। इसलिये जैसे विष-मिश्रित मिष्टान्न त्यागने योग्य है, इसी प्रकार दुःख-मिश्रित विषय-सुख भी त्यागने योग्य हैं। शंका मतकरो।

उक्तप्रकार जब मन विषय-सुखका त्याग करके वैराग्य द्वारा मोक्षप्राप्तिकी अभिलाषा करेगा तब झट विषय-सुखके द्वार पर कपाट देकर मोक्ष-सुखका द्वार खोलदेगा। " यथा कैदारिकः केदारेषु कुल्याजलं संचारयन्नेकस्य द्वारं पिधाय परस्योद्घाटयति तद्वद्वैराग्येण विषयश्रोतः खिली क्रियते अभ्यासेन कल्याण-स्रोत उद्घाटयतीति " जैसे किसान अपने अनाजके खेतमें नहरके जलको सींचताहुआ एक द्वार बन्दकरके दूसरा द्वार खोलदेता है। इसी प्रकार योगी वैराग्य द्वारा विषय-स्रोतके मुखको रूँधकरके अभ्यास द्वारा कल्याण-स्रोतको खोलदेता है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जबतक वैराग्यसे विषय नहीं रोका जावेगा तबतक अभ्यास द्वारा मन वशीभूत होकर मोक्षकी ओर नहीं लगसकता। इसी कारण भगवानने वैराग्य और अभ्यास दोनोंको मनोनिग्रहके कारण बताये। इन दोनोंका समुच्चय दिखलानेके कारण " च " शब्दका प्रयोग किया है। इस मनको कोई चाहे, कि मैं एकाएक वश करलूं तो कदापि नहीं होसकता वरु धीरे-धीरे वशीभूत होता है। इसलिये इसको धीरे-धीरे क्रमशः वश करनेका यत्न करना चाहिये। शीघ्रता करनेसे वशीभूत न होकर अधिक विकार उत्पन्न करता है ". यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद् वश्यः शनैः शनैः " अर्थात् जैसे सिंह, हाथी और व्याघ्र इत्यादि क्रूर जीव धीरे-धीरे बडी युक्तियोंसे वशीभूत होते हैं, शीघ्रता करनेसे फाड खाते हैं। इसी प्रकार इस मनकी भी दशा जाननी चाहिये।

अब इस मनको क्रमशः निग्रह करनेके लिये चार प्रकारके विशेष साधन हैं, जिनका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। ये चार कौन हैं? वर्णन कियेजाते हैं— "उपविश्योपविश्यैव चित्तज्ञेन मुहुर्मुहुः। न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिंदिताम्॥ अंकुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतंगजः। अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगम एव च॥ वासना संपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्। एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल" (वशिष्ठः)

अर्थ— जो चित्तज्ञ है अर्थात् चित्त कितना चंचल है इस बातको पूर्ण प्रकार अनुभव द्वारा जानचुका है वह भली भांति समझता है, कि जब तक उत्तम युक्तियां न कीजावें तबतक केवल आसनोंपर स्थिर होकर बारंबार बैठनेहीसे कोई प्राणी मनको नहीं जीत सकता। जैसे बिना अंकुश मत्त हस्ती वशीभूत नहीं होता, ऐसेही बिना युक्तियोंके यह मन स्थिर नहीं होसकता। इसलिये इस मतवाले मनरूप गजराजके वश करनेके लिये जो अंकुशरूप मुख्य चार युक्तियां हैं उनका वर्णन किया जाताहै— १. अध्यात्मविद्याधिगम। २. साधुसंगम। ३. वासनासंपरित्याग। ४. प्राणस्पन्दनिरोध।

१. अध्यात्मविद्याधिगम— जो चारों वेद, चारों उपवेद, छवों वेदांग, षट्शास्त्र, अष्टादश स्मृतियां, अष्टादश उपस्मृतियां, अष्टादश पुराण, अष्टादश उपपुराण, इतिहास इत्यादि जो अपरा विद्या हैं इनको अध्ययन करनेके पश्चात् श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठकी शरण जाकर परा विद्या जो आत्मविद्या तिसका अभ्यास करना।

२. साधुसंगम— पूर्वोक्त विद्याके मनन और निदिध्यासन करनेके तात्पर्य्यसे साधु-संगममें प्रवृत्त होना, अर्थात् महापुरुषोंकी संगति करनी। क्योंकि साधुसंगमका फल अमोघ है। इस अभ्याससे बहुत ही शीघ्र 'मन' वशीभूत होता है। नारदका वचन है, कि " सत्संगो दुर्लभोऽमोघश्च " (नारदभक्तिसूत्र) अर्थात् सत्संग मिलना दुर्लभ है और यदि मिलजावे तो उसका फल भी अमोघ है। फिर उसी नारदका वचन है, कि " कस्मात्तरति, कस्मात्तरति, कस्मात्तरति " किससे तरता है ? किससे तरता है ?? किससे तरता है ??? यह तीन बार प्रश्न करनेके पश्चात् तीनों बार उत्तर देते हैं " सत्संगात्तरति, सत्संगात्तरति, सत्संगात्तरति" सत्संगसे तरता है ! सत्संगसे तरता है ! ! सत्संगसे तरता है ! ! ! जिसके लिये भगवान पहले कहचुके हैं, कि तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया " (देखो अ० ४ श्लो० ३४) महात्माओंकी शरण जाकेर दण्डके समान गिरकर उनको सेवासे प्रसन्न कर ! और प्रसन्न करके ब्रह्मज्ञान इत्यादिकी प्राप्तिका उपाय जानले।

३. वासनासंगपरित्याग—अर्थात् यह मन शुद्ध और मलिन-वासनाओंमें ऐसा मारा फिरता है जैसे शाखामृग (वानर) इस डालसे उस डालपर उछला फिरता है, सो वासना वैराग्य द्वारा छूटती है। अर्थात् जब सर्व प्रकारके विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न होता है तब धीरे-धीरे वासनाके संगका परित्याग होता है। इसके त्यागकी रीति यह है, कि कुछ काल मलिन-वासनाओंके त्यागका अभ्यास करे, जब एवम प्रकार अभ्यास करते-करते मलिन-वासनाओंसे मन रहित होजावे तब शुद्ध वासनाओंके त्यागका भी आरम्भ करे, जब धीरे-धीरे शुद्ध वासनाओंका

त्याग होजावेगा तब मन स्फटिक वा हीरेकी निर्म्मलता और स्वच्छताके समान प्रस्फुरित और उज्ज्वल होजावेगा। एवम् प्रकार उज्ज्वल होजानेसे उसमें आपसे आप स्थिरता प्रवेश करेगी। क्योंकि निर्म्मल मन स्थिर और अशुद्ध मन चंचल हुआ करता है। क्योंकि **वासना** का **संपरित्याग** ही इसकी निर्म्मलताका कारण है। जैसे शरीरमें जबतक व्रण (फोडा) रहता है तबतक प्राणी मारे व्यथाके रोता पीटता रहता है। पर जब वैद्य उसे चीरकर शरीरसे निकाल-देता है और स्वच्छ होजाता है तब व्यथा निकल जानेसे चित्त स्थिर और शान्त होकर एक ठौर ठहर जाता है और सुखी होकर शान्ति पूर्वक शयन करजाता है। इसलिये सदा वासनाओंके संगके परित्यागका अभ्यास करते रहना चाहिये।

४. **प्राणस्पन्दनिरोध**— इसको प्राणायामके नामसे भी पुकारते हैं। इस प्राणायामकी रीतिका अ० ४ श्लो० २६ में वर्णन होचुका है, तहां यह भी दिखलाया जाचुका है, कि प्राणायामसे मनका निरोध क्यों होता है ?

तात्पर्य्य यह है, कि जबतक प्राणी माताके गर्भमें रहता है तबतक उसका प्राण उसके शरीरके भीतर ही भीतर प्रवाह करता है। पर जब गर्भसे बाहरे आता है तब वही प्राण मुख और नासिकाके छिद्रोंमें होकर बाहर प्रवाह करने लगजाता है। एवम्प्रकार प्रवाह करनेसे स्पन्दत्वको प्राप्त होता है। तिस प्राणके स्पन्द होनेसे इन्द्रियां विषयकी ओर मुख करती हैं और मनको चंचल करती हैं। ये सब उपद्रव

केवल प्राणके स्पन्द होनेसे अर्थात् चंचल होनेसे उपस्थित होते हैं। क्योंकि प्राण और मन दोनोंकी चाल एक समान मानीगयी है।

इसलिये जब प्राणका स्पन्दत्व रुकजावेगा तब मन भी रुक जावेगा। सो जिज्ञासुओंको चाहिये, कि इस चौथी युक्तिका भी अभ्यास करें। प्राणायाम जानने वालोंकी शरण जा यह क्रिया सीखें।

इस प्राणायाम-क्रियाका अभ्यास करते-करते प्रत्याहारकी उत्पत्ति होगी अर्थात् इन्द्रियां आपसे आप विषयोंकी ओरसे खिंचकर एकही होजावेंगी, विषयकी ओर जानेकी इच्छा नहीं करेंगी और तिनके साथ साथ मन भी चुप साध बैठेगा। क्योंकि जब सेना युद्ध करनेको स्वीकार नहीं करेगी तो वह सेनापति क्या करसकता है? उसे अवश्य सेनाके साथ रहकर चुप रहना पड़ेगा। इसी कारण मनके स्थिरकरनेका उत्तमोत्तम अभ्यास यह **प्राणस्पन्दनिरोध** अर्थात् **प्राणायाम** है।

उक्त चारों युक्तियां परस्पर सम्बन्ध रखती हैं, इसलिये इनका अभ्यास एकसाथ करना उचित है। इन चारोंमें सबसे मुख्य और प्रथम अभ्यास **साधु-संगम** है। जो प्राणी प्रतिदिन साधुओंके संगमें जा बैठता है उसे अवश्य अध्यात्म-विद्याकी प्राप्ति होती है। क्योंकि महापुरुष अहर्निश इन आत्म-विचारोंकी शिक्षा देते रहते हैं। जिसे श्रवण करते-करते अध्यात्मविद्यामें प्रवेश होजाता है। तिसमें प्रवेश होतेही ऐसा बोध होता है, कि "**ब्रह्मैव नित्यं तद्व्यतिरिक्तं सर्वमनित्यम्**" केवल ब्रह्म नित्य है और तिससे अतिरिक्त जो कुछ कहा सुनाजाता है सब अनित्य है।

एवम्प्रकार सम्पूर्ण विश्वमात्रको अनित्य और मिथ्या जाननेपर विषयोंसे उदासीनता होती है। जब उदासीनता आई तो धीरे-धीरे उन विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न होता है। जब विषयोंसे एवम्प्रकार वैराग्य होने लगता है तब वासनासंपरित्याग जो अभ्यासका तीसरा अंग है आपसे आप प्राणीके हृदयमें उत्पन्न होता है। यह वासनासंपरित्याग और चौथी युक्ति जो प्राणस्पन्दनिरोध है ये दोनों चित्तके वशीभूत करनेके मुख्य यत्न हैं। अर्थात वासनायाम और प्राणायाम ये दोनों यत्नविशेष मनके वशीभूतकरनेके हैं। प्रमाण— "द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने। एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वेऽपि विनश्यतः॥ प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया। आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ असंगव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात्। शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्त्तते॥ वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम्। प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु॥" (वशिष्ठः)।

अर्थ— श्री वसिष्ठजी श्री रामचन्द्रसे कहते हैं, कि चित्तरूपवृक्षके दो ही बीज हैं— १. प्राणस्पन्द (प्राणोंका प्रवाह) और दूसरा वासना (विषयोंकी स्मृतिमात्रका संस्कार) इनमेंसे एकके नाश होनेसे दूसरेका भी नाश होजाता है। इनमें गुरुके उपदेश द्वारा युक्तियोंके साथ आसन और भोजन इत्यादिका नियम प्रतिपालन करतेहुए प्राणायामका दृढ़ अभ्यास करनेसे प्राणका स्पन्द अर्थात् श्वासोच्छ्वासका प्रवाह रुकजाता है और व्यवहारोंसे संग रहित होजानेसे अर्थात् सांसारिक चिन्ताके वर्जित होनेसे तथा इस शरीरको नाशवान्

जाननेसे वासना का त्याग होजाता है । तिस वासनाके त्यागसे यह चित्त अचित्तताको प्राप्त होता है । अर्थात् मन, संकल्प, विकल्पको तथा प्रमाण, विपर्य्यय इत्यादि पांचों वृत्तियोंको त्याग देता है । एवम्प्रकार जब प्राणका निरोध होगया तो हे रामचन्द्र ! जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसी ही करो ! क्योंकि फिर तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके किसी कार्य्यमें रुकावट नहीं ।

इसी विषयको भगवान् अर्जुनके प्रति पहले ही कहआये हैं, कि " कुर्वन्नपि न लिप्यते " जिसका मन वशीभूत है वह सबकुछ करताहुआ भी किसी कर्मसे लिप्त नहीं होता । इन बचनोंसे सिद्ध होता है, कि प्राणके रोकनेमें अभ्यास और वासनाके रोकनेमें वैराग्य की सहायताकी आवश्यकता है । इसी कारण भगवान्ने अर्जुनके प्रति मनको वशीभूत करनेके दो ही यत्न (अभ्यास और वैराग्य) कहे हैं । तहां योगसूत्रकार पतंजलिने भी ऐसा ही कहा है, कि " अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः " (पतं० अ० १ सू० १२) अर्थात् अभ्यास और वैराग्यसे चित्त-वृत्ति का निरोध होता है ।

अभ्यासमें वह शक्ति है, कि प्राणी जो चाहे करसकता है। रात्रिके समय बाण द्वारा एक छोटी चींटीके पांवको बेधसकता है, अभ्यास द्वारा नट (बाजीगर) मस्तकपर चार घडोंको लेकर एक बांसके ऊपर चढ जाता है और उस बांसका ऊपर वाला छोर हाथसे पकड वहां अधरमें मस्तकपर घडोंको लिये हुए चारों ओर आकाशमें

नृत्य करता है। अभ्याससे अर्जुनने मत्स्य-वेध किया था और अभ्याससे मोती निकालने वाला अत्यन्त गहरे समुद्रके जलमें डूबकर मोती निकाल लाता है। इसलिये यह सिद्धान्त है, कि अभ्यास द्वारा प्राणस्पन्दनिरोध अर्थात प्राणायामकी भी सिद्धि अवश्य होती है। जिससे चित्तवृत्तिका निरोध होजाता है। बहुतेरे प्राणियोंके चित्तमें ऐसी शंका बनी रहती है, कि प्राणायामका अभ्यास सबसे नहीं होसकता। वृद्ध वा अतिवृद्धसे होना कठिन है। क्योंकि आसनोंके लगानेमें तथा श्वासको चढाने, उतारने और रोकनेमें अधिक परिश्रम होता है। पर ऐसी शंका बिना सिर पैरकी है।

स्वामी सहजानन्द कहते हैं, कि "युवावृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा। अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः। अर्थात् कोई प्राणी वृद्ध हो, अत्यन्त वृद्ध हो, रोगी हो तथा दुर्बल हो, सबको अभ्याससे सिद्धिकी प्राप्ति होसकती है। इसी कारण आचार्योंने सन्ध्या-कर्ममें प्राणायामकी ही शिक्षा दी है। जिसे सब छोटे-बडोंको अभ्यास करनेका अधिकार है।

अब अभ्यास और वैराग्यके स्वरूप दिखलाये जाते हैं— तहां "तत्रस्थितौ यत्नोऽभ्यासः" (पतं० पा० १ सू० १३)

अर्थ—वृत्तियोंके निरोध करनेमें जो अन्तःकरणकी स्थिति है तिस स्थितिमें यम नियमादिके जो जो यत्न हों उन सब यत्नोंको बारम्बार साधन करनेका नाम अभ्यास है। अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थके साथ मनके वशीभूत करनेमें उत्साह वा श्रद्धाकी बारम्बार आवृत्ति करते रहनेको अभ्यास

कहते हैं । मुख्य तात्पर्य यह है, कि जब साधक मनको वशीभूत करनेके यत्नमें पूर्ण उत्साहसे लग पडता है और बारम्बार पुरुषार्थ करता चला जाता है तब वह अभ्यासी कहलाता है । जबतक बहुत काल तक यह अभ्यास नहीं किया जावेगा, तब तक दृढता नहीं होगी। जैसे दूधसे दधि बनानेके पात्रमें थोडासा यावनका दधि मिलाकर रात्रिभर स्थिर न छोडकर घंटे दो घंटेके पश्चात् ही पात्रको हिला दिया करो तो दधि नहीं जम सकता, दूधका दूध ही रह जाता है । इसी प्रकार दीर्घकाल पर्य्यन्त निरन्तर अभ्यास नहीं करनेसे दृढता अर्थात् पूर्ण प्रकार स्थिरता नहीं होसकती। तहां सूत्रकारका प्रमाण है— "स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः" (प० पाद १ सूत्र १४)

अर्थ—सो अभ्यास अनिर्विराणचित्त तथा स्थिरबुद्धिसे बहुकाल पर्य्यन्त निरन्तर अत्यन्त श्रद्धासे सेवन किया हुआ दृढभूमिको प्रकट करता है। जब एवम प्रकार दृढभूमिकी प्राप्ति होती है तब चाहे सहस्रों विषय-भोग एकत्र होकर उस प्राणीके मनको डोलाया चाहें तो कदापि नहीं डोल सकता ।

इस सूत्रमें भगवान् पतंजलिने अभ्यासकी दृढता निमित्त तीन मुख्य बातें दिखलाई हैं । अब इन तीनोंका वर्णन किया जाता है ।

१. दीर्घकाल— अभ्यास करनेवालेको दीर्घकाल तक अभ्यास करना चाहिये । यदि शंका हो, कि अल्प-आयुके कारण किसी साधकको दीर्घकालकी प्राप्ति नहीं हुई तब तो उसका अभ्यास करना निरर्थक हुआ । इसी शंकाका उत्तर भगवान् आगे इसी अध्यायके

४१ वें श्लोकमें देखेंगे, कि किसी ज्ञानवान योगीके कुलमें उत्पन्न हो। इसलिये अभ्यासी दृढता पूर्वक अभ्यासको जितना समय पावे करता ही चलाजावे। मरनेसे डरकर अभ्यासको न छोडे और अभ्यासकी सिद्धिसे निराश न होवे।

२. नैरन्तर्य्य— जिस अभ्यासको आरंभकरे उसे निरन्तर बिना त्रुटिके करता चलाजावे। ऐसा न करे, कि चार दिन साधन करनेके पश्चात् व्यवहारोंमें फंसकर त्याग देवे फिर अवकाश पा कुछ करे, फिर छोड देवे। ऐसा करनेसे अभ्यासकी सिद्धि कदापि नहीं होसकती। इसलिये सूत्रकारने नैरन्तर्य-साधनका उपदेश किया है।

३. सत्कार— जैसे घरमें आयेहुएका सत्कार बडे उत्साह और श्रद्धासे कियाजाता है। जबतक वह अतिथि रहता है उसीके समीप बैठता है, उसीके साथ बातें करता है। इसी प्रकार प्राणी अभ्यासका भी सत्कार करे अर्थात् सदा इसी उत्साहमें रहे, कि मेरा अभ्यास बढे तो मैं अभ्यास द्वारा अवश्य ही अपने मनको वशीभूत करलूंगा। ऐसे उत्साहको बनाए रखे। निर्वेद रहित होकर ब्रह्मचर्य्य, विद्या और श्रद्धारूप सत्कारसे अभ्यासकी सेवाकर दृढभूमिमें स्थित हो।

इन ही तीनों बातोंपर ध्यान रखनेसे अभ्यासकी सिद्धि और दृढ-भूमि प्राप्त होती है। प्रमाण श्रु०— "ॐ अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विषेति"।

अर्थ— तप, ब्रह्मचर्य्य, श्रद्धा और विद्या द्वारा आत्माको खोजो!

यहां तक अभ्यासका कथन हुआ अब वैराग्यका वर्णन कियाजाता है। इस वैराग्यका वर्णन स्वल्प-रीतिसे पिछले पृष्ठमें करआये हैं पर अब योगसूत्रसे उसके स्वरूपकी सिद्धि करते हैं " **दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्** " अर्थात् जितने प्रकारके विषय-भोग दृष्ट हैं जैसे पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति, बल, वीर्य्य, रूप, यौवन इत्यादि और जो विषय-भोग ×आनुश्रविक (अदृष्ट) हैं केवल सुने जाते हैं पर देखे नहीं जाते इसलिये अदृष्ट कहलाते हैं। जैसे स्वर्गादिके सुख। इन दोनोंप्रकारके विषय-भोगोंसे तृष्णारहित होजानेको "**वशीकारसंज्ञावैराग्य**" कहते हैं। तहां इस सूत्रसे सूत्रकारका तात्पर्य्य यह है, कि वैराग्य चार प्रकारका होता है **१. यतमान, २. व्यतिरेक, ३. एकेन्द्रिय और ४. वशीकारसंज्ञा ।**

१. यतमान— विषय-भोगोंको भोगते-भोगते जो प्राणीके मनमें प्रारब्धानुसार किसी उग्र पुण्यके उदय होनेसे सन्तोषकी उत्पत्ति होती है और वह शनैः-शनैः विषयोंके त्यागनेका यत्न करने लगजाता है। अर्थात् गुरुदेवकी शरण जाकर यह निश्चय करने लगता है, कि कौन वस्तु सार है ? और क्या असार है ? ऐसी अवस्थाको **यतमानसंज्ञा** वैराग्य कहते हैं।

× **आनुश्रविक**— इसीको **अदृष्ट** भी कहते हैं। जैसे इन्द्रलोकादि लोकोंमें अप्सराओंके संगका सुख, नन्दनवनका सुख, देवादिकोंसे मिलनेका सुख तथा क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु इत्यादिसे रहित होनेका सुख, जो वेद पुराण द्वारा सुने जाते हैं। इसलिये ये सब **आनुश्रविकसुख** कहलाते हैं।

२. व्यतिरेक— कुछ थोडा सन्तुष्ट होकर त्यागनेकी इच्छा करनेको और ऐसा विचार करते रहनेको, कि कितने दोषोंका त्याग होगया और अब कितने दोष शेष हैं इसे **व्यतिरेकसंज्ञा वैराग्य** कहते हैं।

३. एकेन्द्रिय— त्यागकी इच्छा करते-करते जब विषय-भोगोंसे उदासीनता प्राप्त होने लगती है, तिस उदासीनताके प्रभावसे इन्द्रियोंको उन विषय भोगोंसे रोकतेरहनेको **एकेन्द्रियवैराग्य** कहते हैं।

४. आनुश्रविक— इन्हीं तीनों प्रकारके वैराग्योंको क्रमशः अभ्यास करते-करते दृष्ट और **आनुश्रविक** (अदृष्ट) दोनों प्रकारके भोगोंसे मनको वशीभूत करलेनेका नाम **वशीकारसंज्ञा वैराग्य** है और यही वैराग्य उक्त चारों प्रकारके वैराग्योंमें श्रेष्ठ है। इसी कारण पतंजलि भगवानने इस चौथे वैराग्यको (जिसे शुद्ध वैराग्य और यथार्थ वैराग्य कहते हैं) वर्णन किया है। इन चारोंका दूसरा नाम **अपरवैराग्य** भी है।

इस अपर वैराग्यसे भी परे एक परवैराग्य है जो इन चारोंसे श्रेष्ठ है। क्योंकि अपरवैराग्यमें केवल राजस, तथा तामस सुखोंका त्याग होता है और **परवैराग्यमें** सात्विक भोगोंका भी त्याग होजाता है अर्थात् राजस, तामस और सात्विक तीनों प्रकारकी तृष्णाओंसे जब रहित होजाता है तब उसे परवैराग्य कहते हैं। परवैराग्यकी प्राप्तिसे अष्ट-सिद्धियोंकी प्राप्तिके सुखोंका भी त्याग होजाता है।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि मनको वश करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य ये ही दोनों मुख्य साधन हैं॥ ३५ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जिसने अभ्यास और वैराग्य दोनोंका साधन करलिया और जिसने इन दोनोंमें एक भी प्राप्त नहीं किया, उन दोनों प्रकारके मनुष्योंमें क्या अन्तर है ? सो कृपाकर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०—असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६

पदच्छेदः— असंयतात्मना (तत्त्वसाक्षात्कारेण वेदान्तव्याख्यानादिव्यासंगादालस्यादिदोषाद्वाऽभ्यासवैराग्याभ्याम् न निरुद्धमन्तःकरणं यस्य तेन अजितचित्तेन) योगः (मनोवृत्तिनिरोधः) दुष्प्रापः (दुःखेनापि प्राप्तुमशक्यः) इति (एतादृशी) मे, मतिः (संमतिः । निश्चयः) [किन्तु] यतता (भूयोऽपि प्रयत्नं कुर्वता । विषयस्रोतः खिलीकरणेऽप्यात्मस्रोतउद्घाटनार्थमभ्यासं कुर्वता) वश्यात्मना (वैराग्यपरिपाकेन वासनाक्षये सति वश्यत्वमापादितं मनो यस्य तेन) तु, उपायतः (अभ्यासवैराग्यरूपोपायात्) अवाप्तुम (प्राप्तुम्) शक्यः (समर्थः) ॥ ३६ ॥

पदार्थः— भगवान् बोले (असंयतात्मना) अभ्यास और वैराग्य द्वारा अपनें अन्तःकरणको वशीभूत नहीं करने वालेसे (योगः) यह योग (दुष्प्रापः) अत्यन्तक्लेश करनेपर भी प्राप्तहोने योग्य नहीं है (इति) ऐसी (मे) मेरी (मतिः) सम्मति है अर्थात् मैं ऐसा

ही मानताहूं । किन्तु (यतता) जो योगी बारंबार यत्न करनेवाला है तिससे तथा (वश्यात्मना) अभ्यास और वैराग्य द्वारा अपने मन को वशमें रखनेवाला है तिससे (तु) तो (उपायतः) उसी अभ्यास और वैराग्यरूप उपाय द्वारा यह योग (आप्तुम्) प्राप्त कियेजाने (शक्यः) योग्य है ॥ ३६ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो अभ्यास-वैराग्य युक्त तथा अभ्यास वैराग्य रहित दोनों प्रकारके प्राणियोंका अन्तर पूछा है, तिसे भगवान् भिन्न-भिन्न वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः**] जिस योगानुष्ठान करनेवाले योगीने योग-क्रियामें प्रवेश तो करलिया और सिद्धियोंकी प्राप्तिकी अभिलाषासे योगमें हाथ लगादिया, योगियोंके समान स्वांग बनालिया, पर अभ्यास और वैराग्यसे शून्य होनेके कारण संयतात्मा न होसका अर्थात् अपने मनको अपने वशीभूत नहीं करसका। चंचलचित्त होनेके कारण कामादि विकारोंके फंदेमें फँसारहा । केवल पूज्यपाद होनेके तात्पर्यसे योगमें प्रवृत्त हुआ । पर यथार्थमें वृषली-स्वामी होनेके कारण पापाचरणमें समयको बिताता रहा । ऐसा मूर्ख चाहे सहस्रों वर्ष क्यों न योगानुष्ठान करता रहे उसके योगकी सिद्धि कदापि नहीं होसकती, चाहे कितना भी क्लेश क्यों न करे पर वह योगको कदापि प्राप्त नहीं करसकता । क्योंकि ऐसा प्राणी प्रबल पुरुषार्थको त्याग अभ्यास वैराग्यसे रहित हो आलसी बन केवल खाने और पीनेके यत्नमें रहता है, ऐसे ढोंगी योगीको कदापि योगकी प्राप्ति नहीं होसकती । यही मेरी सम्मति है । इस कारण वह कौन पुरुष है ? जो योगको प्राप्त

करसकता है सो हे अर्जुन सुन ! [वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः] अपने आत्मा अर्थात् अन्तःकरणको अपने वश करलिया है जिसने तिस यत्न करनेवालेके द्वारा यह मन वशीभूत होसकता है अर्थात् योगको प्राप्त कर सकता है। यहां भगवानने वश्यात्मना और यतता इन दो विशेषणोंका प्रयोग किया है तिसका कारण यह है, कि पूर्ण अपरवैराग्य द्वारा सर्व प्रकारके लौकिक, पारलौकिक-वासनाओंको क्षय करके वश करलिया है अपने अन्तःकरणको जिसने उसे कहिये वश्यात्मा। और विषयके सम्मुख होनेपर भी चित्तको रोकनेमें सदा यत्न करता रहता है उसे कहिये यतता। सो भगवान् कहते हैं, कि ऐसे वश्यात्मा और यतता अर्थात् यत्न करतेरहनेवालेसे यह मन उपाय द्वारा वशीभूत होसकता है।

जैसे बाजीगर बनमें जा निर्भय हो प्रबल पुरुषार्थ अर्थात् पूर्ण यत्नके साथ व्याघ्र और गजको वश करलाता है। इसी प्रकार जिस योगीने अभ्यास और वैराग्यसे मनको वशीभूत करलिया है और बारंबार अहर्निश यत्न करताहुआ जो स्थिरचित्त होगया है वही योगी (शक्योऽवाप्तुमुपायतः) उपाय करके अर्थात् प्रबल पुरुषार्थ करके उस योगको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। यहां (उपायतः) कहनेका तात्पर्य यही है, कि यदि उस प्रबल पुरुषार्थमें किसी मन्द प्रारब्धके कारण किसी प्रकारका उपद्रव उपस्थित होजावे, तो योगी उपाय करके अर्थात् यत्न करके उस उपद्रवको ध्वस्त कर फिर अपने लक्ष्यकी ओर चले प्रारब्धपर नहीं बैठरहे

शंका— बहुतेरे प्राणी प्रारब्धकी प्रबलता अर्थात् मन्द-प्रारब्धको जीतनेका उद्योग करते हैं पर प्रारब्ध बलवान् होनेके कारण उनसे जीता नहीं जाता फिर उनका पुरुषार्थ (यत्न) क्या काम कर सकता है ?

समाधान— पुरुषप्रयत्न (पुरुषार्थ) दो प्रकारका है । १. उच्छास्त्र और २. शास्त्रित शास्त्रोंसे रहित यत्नोंमें परिश्रम करनेको उच्छशास्त्र और शास्त्रोंकी आज्ञानुकूल यत्नोंको शास्त्रित कहते हैं । इन्हीं दोनोंको दूसरे शब्दोंमें उन्मत्तयत्न और यथार्थयत्नके नामसे भी पुकारते हैं । तहां जो प्राणी उच्छास्त्र (उन्मत्त-यत्न) करता है उसका यत्न सिद्ध नहीं होता, प्रारब्ध उसपरे प्रबल ही रहता है । और जो शास्त्रित-यत्न (यथार्थयत्न) करता है वह सिद्धि प्राप्त करता है अर्थात् पुरुषार्थ द्वारा प्रारब्धको दाबलेता है । तहां वशिष्ठजी श्री रामचन्द्रजीसे कहते हैं, कि " सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन! । सम्यक्प्रयुक्तात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते ॥ उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं स्मृतम् । तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ॥ शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित । पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥ अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारय ! । स्वं मनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनाम्वर! ॥ प्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम् । तदाभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन! ॥ सन्दिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर । अस्यान्तु वासनावृद्धौ शुभाद्दोषो न कश्चन ॥ अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः । गुरुशास्त्रप्रमाणैस्तु निर्णीतं तावदाचर! । ततः पक्वकषायेण नूनं

विज्ञातवस्तुना। शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निराधिना॥"

अर्थ— हे रघुनन्दन ! इस संसारमें जितने पदार्थ हैं सबोंको सब प्राणी सम्यक् प्रकारसे पुरुषप्रयत्न अर्थात पुरुपार्थ द्वारा प्राप्त करलेते हैं। सो पुरुषार्थ दो प्रकारका है-उच्छास्त्र और शास्त्रित अर्थात् शास्त्रप्रतिकूलयत्न और शास्त्रानुकूल यत्न। तहां उच्छास्त्र (उन्मत्त) यत्नसे अनर्थोंकी प्राप्ति होती है और शास्त्रित (यथार्थ) यत्नसे परमार्थकी प्राप्ति होती है। वासनाकी नदी शुभ और अशुभ तटोंके मध्य प्रवाह कररही है अर्थात वासना-रूप नदीके शुभ और अशुभ दो तट हैं। इसलिये पुरुषप्रयत्न (प्रबलपुरुषार्थ) करके शास्त्रितयत्न द्वारा शुभतट (किनारे) की ओर जाना चाहिये। हे वीरोंमें श्रेष्ठ श्री रामचंद्र ! जो कदापि तुम्हारा मन अशुभमें प्रवेश करजावे तो उसी क्षण तुम अपने पुरुपार्थके बलसे उस अशुभसे मनको निकालकर शुभ पथकी ओर लगाओ ! पूर्व अभ्यासके बलसे जब तुम्हारे मनमें शुभ वासना उदय होने लगजावें तब हे शत्रुओंके नाश करनेवाले श्री रामचंद्र तुमको ऐसा जानना चाहिये, कि अब अभ्यासकी सफलता प्राप्त हुई है। यदि शुभ वासनामें कभी किसी कारणसे किसी समय किसी प्रकारका सन्देह भी उत्पन्न होआवे तो भी तुम उसी शुभ वासनाका अभ्यास करो ! क्योंकि शुभ वासनाओंकी वृद्धि होनेसे हे तात ! किसी प्रकारकी हानि नहीं होती। हे रामचंद्र ! जबतक तुम अव्युत्पन्न मनवाले हो अर्थात् जबतक अन्तःकरणकी शुद्धि होकर आत्मज्ञानकी प्राप्ति तुमको नहीं हुई है तबतक गुरु और शास्त्रोंकी आज्ञानुकूल जो कुछ निर्णय होगया हो आचरण करो ! एवम्प्रकार आचरण करते-

करते जब तुम्हारा कषाय परिपक्व होजावे और आत्मज्ञानकी प्राप्ति तथा मनका निरोध होजावे तब तुम उन शुभ वासनाओंके समूहोंका भी त्याग करदीजो ।

इन वचनोंसे भी सिद्धान्त होता है, कि " पुरुषप्रयत्न " ही बलवान है । पर वह पुरुषप्रयत्न शास्त्रित होना चाहिये उच्छास्त्र नहीं होना चाहिये । जैसे घरमें आग लगजावे तो उस समय जलके लिये कूप खोदना उच्छास्त्रयत्न है और बनेहुए कूपसे जल निकालकर अग्निको बुझादेना शास्त्रितयत्न है । इसी प्रकार इस योगमें भी प्राणी * शास्त्रित-पुरुषार्थकर विषयके स्रोतको रोक, अभ्यासके स्रोतको खोल अपने लक्ष्यपर पहुंचनेका यत्नकरे, प्रारब्धके भरोसे न बैठारहे। यहां शंका मतकरो !

अर्जुनने जो संयतात्मा और असंयतात्माका अन्तर पूछा था सो भगवानने स्पष्टकर कहदिया, कि संयतात्मा योगको लाभ करता है जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है और असंयतात्मा पतित होकर नरकोंकी यात्रा करता है ॥ ३६ ॥

---

* पुरुषार्थः= " अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः "

(सांख्यसूत्र १)

अर्थ— जिसके द्वारा तीनों प्रकारके दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति होजावे उसे अत्यन्त अर्थात् प्रबल पुरुषार्थ कहते । पुरुषार्थ और प्रारब्धका सम्बन्ध अन्योन्य है । जिस किसी कर्ममें ये दोनों एकसंग पहुंचजाते हैं तहां इन दोनोंमें घोर युद्ध होता है । अर्थात् प्रारब्धानुकूल दुःखका अवश्य भोगना और पुरुषार्थानुकूल दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति । इन

इतना सुन अर्जुन बोला—

मू०— अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण! गच्छति ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण ! छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥
॥ ३७, ३८, ३९ ॥

पदच्छेदः— कृष्ण ! (हे भक्तजनपापाकर्षणसमर्थ वासुदेव !) **श्रद्धया** (मोक्षे ईश्वरे चास्तिक्य बुद्ध्या) **उपेतः** (योगे प्रवृत्तः) **अयतिः** (आयुषोऽल्पत्वाद्वा वैराग्यदौर्बल्याद्वा योगमार्गेऽल्पप्रयत्नतया शिथिलाऽभ्यासः) **योगात्** (योगक्रियाऽनुष्ठानात्) **चलितमानसः** (मरणकाले चेन्द्रियाणां व्याकुलत्वेन योगाद्भ्रष्टस्मृतिः) **योगसंसिद्धिम्** (योगनिष्पत्त्यवस्थाम् । सम्यग्दर्शनम् । योगफलम् । मोक्षम्) **अप्राप्य** (अलब्ध्वा) **काम्** (कीदृशीम्) **गतिम्** (दशाम् । सुदशाम् दुर्दशाम् वा) **गच्छति** (प्राप्नोति) [अधुना स्वाशयं स्फुटयति]

दोनोंमें एककी हार और दूसरेकी जीत होती रहती है । इन दोनोंमें किसी एककी विशेष मुख्यता नहीं है । कोई प्रारब्धको और कोई पुरुषार्थको प्रबल कहता है । " उच्छास्त्र " यत्नसे पुरुषार्थकी असिद्धि और प्रारब्धकी प्रबलता बनी रहती है और " शास्त्रित " यत्नसे पुरुषार्थकी प्रबलता और प्रारब्धके भोगोंकी हानि हो जाती है ।

महाबाहो (भक्तोद्धारणसमर्थौ महान्तौ बाहू यस्य तत्सम्बुद्धौ) ब्रह्मणः पथि (ब्रह्मप्राप्तिमार्गे) विमूढः (विक्षिप्तः अनुत्पन्नब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारः) अप्रतिष्ठः (निराश्रयः देवयानपितृयानमार्गगमनहेतुभ्यामुपासनाकर्मभ्यां प्रतिष्ठाभ्यां साधनाभ्यां रहितः) उभयविभ्रष्टः (कर्ममार्गाज्ज्ञानमार्गाच्च विभ्रष्टः) छिन्नाभ्रम् (पूर्वस्मादभ्राद्विश्लिष्टमभ्रान्तरम्) इव (सदृशम्) कच्चित् (किम्) न (नैव) नश्यति (नष्टो भवति । विलीयते) कृष्ण ! (हे वासुदेव!) मे (मम) एतत् (एनं पूर्वदर्शितम्) संशयम् (संदेहम्) अशेषतः (सर्वतः) छेत्तुम् (निराकर्त्तुम् । अपनेतुम्) अर्हसि (समर्थोऽसि)हि (यस्मात्) त्वदन्यः (त्वत्परमेश्वरात्सर्वज्ञाच्छास्त्रकृतः परमगुरोः कारुणिकादन्यः कश्चित् ऋषिर्वा देवो वा) अस्य (योगभ्रष्टपरलोकगतिविषयस्य) संशयस्य (संदेहस्य) छेत्ता (उत्तरदानेन नाशयिता) नहि (नैव) उपपद्यते (संभवति) ॥ ३७, ३८, ३९ ॥

पदार्थः— (कृष्ण !) हे भक्तोंके पापोंको खींचलेनेवाले कृष्ण ! जो प्राणी (श्रद्धया) मोक्ष तथा ईश्वरकी प्राप्तिकी श्रद्धासे (उपेतः) योगमें प्रवृत्त होकर (अयतिः) थोडी आयुके कारण अथवा पूर्णवैराग्य न प्राप्त होनेके कारण, योगका यत्न पूर्ण नहीं कर-सका इसी कारण (योगात्) योगसे (चलितमानसः) जिसका मन चलायमान होकर (योगसंसिद्धिम्) योगकी सिद्धिको (अप्राप्य) नहीं प्राप्त करके मृत्युको प्राप्त होगया सो पुरुष (कां गतिम्) किस-गतिको (गच्छति) प्राप्त होता है ? अब दूसरे श्लोकमें इसी तात्पर्य्यको पूर्णप्रकारसे स्पष्ट करके अर्जुन कहता है (महाबाहो !)

हे विशाल पराक्रम युक्त भुजावाले भक्त-रक्षक श्री गोविन्द! जो प्राणी (ब्रह्मणः पथि) ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें (विमूढः) मूढ है तथा (अप्रतिष्ठः) कर्म अथवा उपासना किसी प्रकारका भी आश्रय जिसको नहीं, अर्थात् किसी पथपर जिसकी प्रतिष्ठा नहीं है इसी कारण (उभयविभ्रष्टः) कर्म और ज्ञान दोनों मार्गोंसे भ्रष्ट होरहा है सो (छिन्नाभ्रमिव) छिन्न-भिन्न बादलोंके समान (कच्चित्) क्या (न, नश्यति) नाश नहीं होजाता है ?

इतना कहकरे अर्जुन इस तीसरे श्लोकमें अपने मनकी सच्ची दशा प्रकटकर भगवानसे अपने संशयका नाश करनेकी प्रार्थना करता हुआ कहता है (कृष्ण!) हे कृष्ण ! (मे) मेरे (एतत् संशयम्) इस संशयको (अशेषतः) पूर्णप्रकार (छेत्तुम्) तुम नाश करनेके (अर्हसि) योग्यहो और (हि) यह निश्चय है, कि (त्वदन्यः) तुह्मारेको छोड और कोई दूसरा ऋषि वा देवता (अस्य) इस मेरे (संशयस्य) सन्देहका (छेत्ता) उत्तर देकर नाश करनेवाला (न) नहीं (उपपद्यते) मिलसकता है ॥ ३७, ३८, ३९ ॥

भावार्थः— भगवानने जो ३६वें श्लोकमें **संयतात्मा** और **असंयतात्माका** अन्तर दिखलाते हुए अर्जुनसे यह कहा था, कि **असंयतात्मा** योगको लाभ नहीं करता केवल **संयतात्मा ही** पुरुष प्रयत्नसे अर्थात् शास्त्रित-यत्न द्वारा योगको प्राप्त करसकता है। इस सिद्धान्तको सुनकर अर्जुन अपने मनमें विचारने लगा, कि मुझसे पुनः पुनः भगवान् कहते चले आरहे हैं, कि पूर्ण यत्न करके अभ्यास और वैराग्यकी प्रवृत्तिसे

योगकी सिद्धि प्राप्त करलेनी चाहिये। पर जो स्वल्पायु है वह अपनी थोडी आयुमें इसकी पूर्त्ति कैसे कर सकता है ? यदि उसने इस योगमें प्रवेश किया पर योग पूर्ण होनेके पहले ही उसकी आयु खुटागई तो न जाने वह किस गतिको प्राप्त होगा ? इसलिये भगवान्से अपने इस संशयके निवारणार्थ पूछता है, कि [**अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः**] जो प्राणी योगकी प्राप्तिकी पूरी श्रद्धा रखता है, मनसे सदा उत्साह पूर्वक उस योग-पथमें प्रवेश करचुका है, गुरु द्वारा थोड़ा बहुत आसन प्राणायाम इत्यादि क्रियाओंको जान चुका है, केवल इतना ही नहीं वरु + साधनचतुष्टयकी भी श्रद्धा कर चुका है, मोक्षकी इच्छा करचुका है साधुसंग द्वारा जो नित्य अनित्य वस्तुका विवेक करचुका है, इस लोकसे परलोक पर्य्यन्तके सुखको अनित्य जानकर अपना मन उनसे विरक्त करनेकी श्रद्धा करचुका है, शम, दम, इत्यादि षट्-सम्पत्तियोंको प्राप्त कर मुमुक्षु होचुका है। एवम्प्रकार वह प्राणी यदि श्रद्धासे युक्त होनेपर भी आयु अल्प होनेके कारण अयति रहा और यत्नको पूर्ण न करसका वरु सामने मृत्युको खडी देखकर " **योगाच्चलितमानसः** " योग-साधनसे संयोगवशात ऐसे चञ्चल मन होगया जैसे कोई बुद्धिमान किसी बनमें चलते--चलते किसी

+ साधनचतुष्टय— १. **नित्यानित्यवस्तुविवेक** २. **इहामुत्र-फलभोगविराग**, ३. **शमदमोपरमतितिक्षाश्रद्धादि सम्पत्** और ४. **मुमुक्षुता** । ये ही चारों साधनचतुष्टय कहलाते हैं।

व्याघ्रसे घेरा जाकर व्याकुलचित्त होजाता है । उसकी विद्या और बुद्धि सब लुप्त होजाती हैं । इसी प्रकार वह श्रद्धावान साधक भी औचट मृत्युको सन्मुख देख व्याकुलचित्त हो योगसे चलायमान होगया तो [**अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण ! गच्छति**] योगके फलकी प्राप्ति न करके हे भक्तोंके संशयके आकर्षण करनेवाले श्री कृष्ण ! ऐसा प्राणी किस गतिको प्राप्त होता है ? अर्थात् सुगतिको प्राप्त होता है या दुर्गतिको ? सो मुझे समझाकर कहो । क्योंकि यदि उसकी श्रद्धाकी ओर दृष्टि कीजाती है, तो वही सुगतिका अधिकारी समझा जाता है । पर उसके भ्रष्ट योगकी ओर दृष्टि करनेसे वही कुगतिका अधिकारी समझाजाता है इसलिये हे भगवन ! [**कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति**] ऐसा प्राणी उभयभ्रष्ट होकर अर्थात् कर्म, उपासना दोनोंमें किसी साधनको पूर्ण न करके, छिन्न भिन्न होकर बादलोंके विलाजानेके समान क्या नहीं विलाजाता है ? अर्थात् जो साधक न तो कर्मकाण्डहीकी समाप्ति करसका, न मोक्षका मार्ग बनासका, न × **देवयान** होकर जानेका अधिकारी बनसका और न पितृयान होकर पितृलोक जानेका अधिकारी होसका। इसलिये हे गोविन्द ! " **उभयविभ्रष्टः** " दोनों ओरसे भ्रष्ट रहा न इधरका रहा न उधरका हुआ और इसी कारण " **अप्रतिष्ठः** " निराश्रय होरहा, किसी उच्चस्थानमें प्रतिष्ठा नहीं पासका अर्थात् इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक आदि लोकोंमें भी नहीं स्थिर होसका ।

× देवयान और पितृयान इन दोनों मार्गोंका वर्णन आगे अध्याय ... श्लोक ... में कियाहुआ है देखलेना ।

अथवा किसी देव देवीमें जिसका आश्रय भी नहीं होसका और योगकी सिद्धि न प्राप्त होनेसे चंचलचित्त होनेके कारण उपासनाकी भी पूर्त्ति न करसका। इसलिये मरणकालमें किसी प्रकारका सहारा न पाकर व्यग्र होगया तो ऐसा प्राणी क्या नष्ट नहीं होजाता है ? क्योंकि [अप्रतिष्ठो महाबाहो ! विमूढो ब्रह्मणः पथि] हे महाबाहो ! भक्तजनोंके उद्धार करनेके निमित्त पराक्रम युक्त विशाल भुजावाले श्री वासुदेव ! वह प्राणी अप्रतिष्ठ रहा और ब्रह्मतत्वसे विमूढ रहा अर्थात् न तो किसी लोकमें प्रतिष्ठा पासका और न ब्रह्माकार होसका तो क्या उसकी दुर्गति नहीं समझी जायगी ? अर्जुनके पूछनेका यह तात्पर्य्य है, कि जो प्राणी उक्त प्रकार **उभयभ्रष्ट** है, अप्रतिष्ठ है और ब्रह्मतत्वसे विमूढ है पर योगकी श्रद्धा करचुका है और योगमें हाथ लगाचुका है तो क्या उस प्राणीको सुगति प्राप्त नहीं होगी ? क्या उस प्राणीको कहीं कुछभी आश्रय न मिलसकेगा ?

इतनी वार्त्ता कहकर अर्जुन श्यामसुन्दरसे प्रार्थना करता है, कि [एतन्मे संशयं कृष्ण ! छेत्तुमर्हस्यशेषतः] हे कृष्ण ! भक्तोंके हृदयकी शंकाओंको शीघ्र अपने मधुर और मृदु वचनों द्वारा खींच लेनेवाले ! यह जो इतना मेरा संशय है उसे तुम्हीं पूर्णप्रकार छेदन करनेके योग्य हो सो नाश करो !

यहां अर्जुन युद्धके समय रणमें उपस्थित वीरोंको देख और श्याम-सुन्दरसे बार-बार युद्ध करनेकेलिये प्रेरित हो मनमें यों विचाररहा है, कि श्यामसुन्दर जिस आत्मज्ञान—प्राप्तिका मार्ग बतारहे हैं वह

अवश्य साधन करने योग्य है । भगवान् यह कहचुके हैं, कि तुझको **कर्मयोग** और **ज्ञानयोग** जिनसे ब्रह्मका साक्षात्कार होता है लाभ होंगे । अर्जुन अपने मनकी ऐसी दशा और अपनी अवस्थाका विचार कररहा है, कि अभी तो मैं रथपर युद्धकेलिये उपस्थित हूं इस रणभूमिसे कादरोंके समान भाग भी नहीं सकता और इधर श्यामसुन्दर भी युद्ध करवानेकेलिये मेरे पीछे पडेहुए हैं इनकी प्रबल प्रेरणा मुझसे अवश्य युद्ध करवावेगी । इधर इस गीता-शास्त्रका उपदेश सुनकर मैं ऐसा मोहित होरहा हूं, कि मेरे चित्तमें कर्मयोगकी पूर्तिकर उपासनाका साधन करतेहुए ज्ञानयोगकी प्राप्तिकी श्रद्धा उपज रही है । पर इस समय यदि मैं भीष्म और द्रोण इत्यादिके बाणोंसे रणमें मारागया तो मैं **उभयभ्रष्ट** होजाऊंगा । यदि युद्धमें मारेजानेसे स्वर्ग भी लाभ हो तो भी भगवान्के वचनानुसार उसके सुखमें फँसजानेसे वैराग्यकी सिद्धि न होगी और जब ऐसे वैराग्यकी ही सिद्धि न हुई तो मैं दोनों ओरसे गया । क्योंकि नश्वर होनेसे स्वर्ग सुखमें मेरी प्रवृत्ति ही न होगी और इधर ज्ञानयोग साधन न होनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति भी न होगी तो पहले मैं ही एक पुरुष ऐसा हूं, कि रणमें मारेजानेसे **उभयभ्रष्ट** होजाऊंगा । फिर न जाने मेरी क्या दुर्गति होगी ? इसलिये सन्देहके मिससे मानो अपनी दशा भगवान्के सम्मुख प्रकट करताहुआ कहरहा है, कि [**त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते**] तुमको छोड दूसरा कोई भी मेरे इस संशयका नाश करनेवाला नहीं है । क्योंकि तुममें अतिशयज्ञान है ।

निरतिशय उसे कहते हैं जिससे बढकर कोई ऋषि वा देवता

अतिशय-ज्ञानवाला नहीं है। प्रमाण– "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्" (पतं० अ० १ सू० २५) अर्थात् (तत्र) तिस ईश्वरमें जो निरतिशय ज्ञान है वही उस ईश्वरके सर्वज्ञ होनेका बीज है । मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जिसमें निरतिशयज्ञान है वही सर्वज्ञ है ।

शंका— क्या ब्रह्मादि देव सर्वज्ञ नहीं हैं ?

समाधान— नहीं है क्योंकि " स एव सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् " (पतं० अ० २ सू० २६) अर्थ— वही महापुरुष कालसे अवच्छिन्न नहीं होनेके काल, ब्रह्मादि देवोंका भी गुरु है । क्योंकि वे कालसे अवच्छिन्न हैं । इसलिये ईश्वर नहीं होसकते । शंका मतकरो !

इसी तात्पर्यसे अर्जुन प्रार्थना करता है, कि हे कृष्ण ! तुम सब के गुरु हो । तुमसे बढकर कोई दूसरा मेरे इस संशयका निवारण करनेवाला मुझे तीनकालमें भी प्राप्त नहीं होसकता । हे दयासागर ! जो तुम ब्रह्मादिको भी शीघ्र प्राप्त नहीं होते सो न जाने मेरी किस प्रबल तपस्यासे हे जगद्गुरो ! जगदभिराम आज तुम मुझको ऐसे सस्ते मिल गये हो ! फिर ऐसा कौन होगा ? जो अमृतसागरको छोड मृगतृष्णाके हाथ लग जलके पीछे दौडेगा ? हे भगवन् ! कृपा कर तुम ही मेरे संशयका नाश करो ! ॥ ३७, ३८, ३९ ॥

अर्जुनके इस गंभीर आशयको श्रवण कर भगवान् अगले श्लोकोंमें उत्तर देतेहुए कर्मकाण्डका विषय समाप्त करते हैं।

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मू०—पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

पदच्छेदः— [हे] पार्थ ! (पृथापुत्र !) न (नहि) इह (अस्मिन् मनुष्यलोके) न (नैव) अमुत्र (परस्मिनलोके) एव (निश्चयेन) तस्य (श्रद्धयोपेतस्य योगभ्रष्टस्य) विनाशः (विध्वंसः । प्रणाशः । क्षयः । उच्छेदः) विद्यते (संभवति) हि (यस्मात् कारणात्) [हे] तात ! (लोकरीत्या लालने सम्बोधनम्) कश्चित् (कोऽपि नरः) कल्याणकृत् (शुभकारी परमपुरुषार्थसाधकः) दुर्गतिम् (कुत्सितां गतिम् । इह अकीर्त्तिम् परत्र कीटादि नारकीं- योनिम) न (नैव) गच्छति (प्राप्नोति) ॥ ४० ॥

पदार्थः— हे (पार्थ !) पृथाका पुत्र अर्जुन ! (न) न तो (इह) इस लोकमें (न) न (अमुत्र) परलोकमें (एव) निश्चय करके (तस्य) तिस श्रद्धासे युक्त योगभ्रष्टवालेका (विनाशः) किसी प्रकार भी नाश (विद्यते) संभव होता है। अर्थात् योगभ्रष्ट प्राणीका कहीं भी नाश नहीं होता (हि) क्योंकि (तात!) मेरे प्राणप्रिय अर्जुन ! तू निश्चय जानले, कि (कश्चित्) कोई प्राणी (कल्याणकृत्) शुभ कर्म करनेवाला (दुर्गतिम्) किसी प्रकारकी दुर्गतिको (न) नहीं (गच्छति) प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो संसारके कल्याणके निमित्त तथा अपनी सुगतिके निमित्त भगवानसे प्रश्न किया है, कि जो श्रद्धावान् पुरुष अपने

कल्याण निमित्त योगसाधनमें प्रवृत्त हुआ, पर पूर्ण न करसका, मृत्युके वश होगया तो ऐसे प्राणीकी क्या दशा होगी ? तिसका उत्तर देते-हुए श्यामसुन्दर कहते हैं, कि [पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्त-स्य विद्यते] हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! कि जो प्राणी मोक्षकी इच्छा से तथा भगवत्स्वरूप-प्राप्तिकी अभिलाषासे अभ्यास और वैराग्यमें हाथ लगावे पर प्रारब्धवश मृत्यु उपस्थित होजानेसे अपने योगकी पूर्त्ति न करसके, तो ऐसा कदापि नहीं होसकता, कि वह आकाशके बादलोंके समान देखते-देखते नष्ट होजावे अथवा किसी दुर्गतिको प्राप्त हो । अर्थात् ऐसा पुरुष जिसने तनक भी योगमार्गकी ओर श्रद्धा की है चाहे उसका अभ्यास पूर्ण हो वा न हो कदापि नाशको नहीं प्राप्त होसकता । न तो इस लोकमें वह किसी नीच-योनिको जासकता है, न परलोकमें नरकको प्राप्त होसकता है । क्योंकि उसके आचरण ऐसे भ्रष्ट नहीं हैं, कि उसे नीच-गतिकी ओर लेजावें ।

इसी विषयको भगवान् अर्जुनके प्रति समझारहे हैं, कि [न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति] हे *तात

* तात शब्द कहकर वही पुकारा जाता है जो अपना परम प्रिय होता है, जिसपर बड़ा अनुकम्पा होती है । "तनोत्यात्मानं पुत्ररूपेणेति पिता तात उच्यते, पितेव पुत्र पुत्रोऽपि तात उच्यते, शिष्योऽपि पुत्रतुल्य उच्यते" अर्थात् पुत्र रूपसे पिता अपनेको विस्तार करता है. इसलिये पिता तात कहाजाता है तथा पुत्र भी पिता ही का रूप है इसलिये पुत्र भी तात कहलाता है और शिष्य भी पुत्र ही के तुल्य होता है इसलिये इसे भी तात कहसकते हैं ।

अर्जुन ! कोई शुभाचरण करनेवाला प्राणी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होसकता। अर्थात् जिस प्राणीने भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषासे पापाचरणोंको छोड योगमें श्रद्धा की, पर अल्पायु होनेके कारण उस योगकी पूर्त्ति न करसका तो मरणके पश्चात् उसकी * तीसरी गति नहीं होगी। अर्थात् यहां वहां कहीं भी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होगा, न किसी नीच-योनिमें जावेगा और न नरकमें जावेगा । भगवान् अर्जुनके हृदयकी बात समझगये हैं, कि अर्जुन भीष्म और द्रोणके बाणोंका भय करके अपनेको मृत्युके मुखमें समझ रहा है और इधर मेरे वचनोंसे इसको ब्रह्मपथमें श्रद्धा उपज रही है अतएव व्याकुल होरहा है । इसलिये पहले अर्जुनको सन्तोष देनेके तात्पर्यसे भगवान् कहते हैं, कि हे तात अर्जुन ! तू किसीसे भय मत कर ! तू मेरा प्रिय है, तुझपर मेरी पूरी कृपा है, तुझको इस रणमें मैं कभी नहीं मरनेदूंगा। यह वचन स्पष्ट-रूप से न कहकर तात शब्दसे सम्बोधन करतेहुए कहते हैं, कि हे मेरा परम प्रिय अर्जुन ! जिसने श्रद्धापूर्वक योगमें चित्त लगादिया है, जो

---

* श्रु० — "अथैतयोः पथो नर्कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्य स कृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेतत्तृतीयꣳ स्थानम्........"

अर्थ— पूर्वोक्त देवयान और पितृयान इन दोनों मार्गोंके जो अधिकारी नहीं होते हैं वे अति तुच्छ कीट पतङ्गादि योनियोंको सदा प्राप्त करते हैं। क्योंकि भगवान् उनके अशुभ कर्मोंके कारण उनसे यों कहते हैं, कि बार-बार जन्मते और मरते रहो यही तीसरा स्थान अर्थात् तीसरी गति है।

कल्याणकृत् है अर्थात् शोभन कर्मोंका करनेवाला है उसकी दुर्गति कदापि नहीं होसकती। यद्यपि वह योगी सिद्धि प्राप्त नहीं करसका तथापि योगकी भावना तो उसके हृदयमें बनीहुई है। इसलिये वह दुर्गतिके क्लेशोंसे बच ही जाता है। भगवान् पतंजलि भी ऐसा ही कहते हैं, कि—

" विशेषदर्शिनं आत्मभावभावना विनिवृत्तिः " (प० अ० ४ सू० २५)

अर्थ— विशेषदर्शी अर्थात् ज्ञानीको आत्मभावकी भावना होनी ही उसके संसारकी निवृत्तिका कारण है। जैसे वर्षाकालके समय पृथ्वी पर तृण और अंकुरोंके जमनेसे अनुमान होता है, कि इनमें जो बीज-शक्ति है अब तिसकी वृद्धि होगी। इसी प्रकार जो प्राणी मायासे तथा अशुद्ध आचरणोंसे रहित होकर कुछ विशेषदर्शी हुआ है, जिसने यह जाना है, कि इस सृष्टिका महाकारण कोई ईश्वर है उसकी ओर चलना चाहिये तथा गुरुदेवोंकी शरण जा मोक्षमार्गको पूछना चाहिये वही प्राणी विशेष-दर्शी कहाजाता है। ऐसे प्राणीकी पहचान यह है, कि मोक्षमार्गकी बातोंको सुनकर उसे आनन्द होता है, आंखोंमें आंसू तथा रोमांचसे गद्गद होजाता है। ऐसेको देखकर अनुमान होता है, कि इसमें अब संसृतिकर्मोंसे निवृत्तिकी सत्ता उत्पन्न होरही है। इसीलिये विशेषदर्शी जो आत्मभावकी भावना करनेवाला है "कल्याणकृत" कहा जाता है। इसीके विषय भगवान् कहते हैं, कि हे तात अर्जुन! " न हि-कल्याणकृत कश्चित् " कोई शुभाचारी पुरुष दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता। जब ही प्राणीमें आत्मभावकी श्रद्धा उत्पन्न होती है तब ही वह ऐसे विचारने लगजाता है, कि मैं कौन हूं ? कौन था ? क्या था ?

यह जो संसार दृश्य होरहा है क्या है ? कैसे है ? आगे क्या होगा मैं क्या होजाऊंगा ? मेरी क्या दशा होगी ? एवम् प्रकार विचारते-विचारते जो मृत्युको प्राप्त होजाता है वह यद्यपि देवयान और पितृयान दोनों मार्गोंमें किसीको प्राप्त न करसके तथापि उसकी दुर्गति नहीं होती, सुगति होती है ॥ ४० ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! यदि उस प्राणीकी दुर्गति नहीं होती है, तो उसकी सुगति अर्थात् मोक्षमार्गकी ओर बढनेकी चाल किस प्रकार बनती है ? सो कृपाकर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन ! सुन —

मू०—प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

पदच्छेदः— * योगभ्रष्टः (योगमार्गे प्रवृत्तस्त्यक्तसर्वकर्मा भगवत्स्वरूपमलब्ध्वैव मृतः) पुण्यकृताम् (शोभनकर्मानुष्ठातॄणाम् अश्वमेधादियाजिनाम्) लोकान् (स्वर्लोकादीन्) प्राप्य (गत्वा । लब्ध्वा) [तत्र] शाश्वतीः (असंख्याताः) समाः (सम्वत्सरान्) उषित्वा (वासं कृत्वा । दिव्यान् भोगान् अनुभूय) शुचीनाम् (स्वधर्माचरणेन पवित्राणाम् । सदाचाराणाम्) श्रीमताम् (महदैश्वर्यसम्पन्नानाम्) गेहे (गृहे । कुले) अभिजायते (उत्पद्यते) ॥ ४१ ॥

* योगभ्रष्टोऽपि द्विविधः— एको मन्दाभ्यासवान् मृतः । द्वितीयः चिरकालाभ्यस्तयोगः भासन्नफलकाले मृतः ।

पदार्थः— (योगभ्रष्टः) योगमार्गमें प्रवृत्त होकर जो पूर्ण न करसका मध्यमें ही मृत्युको प्राप्त हुआ ऐसा जो योगभ्रष्ट प्राणी है वह (पुण्यकृताम्) नाना प्रकारके पुण्यकर्म करनेवालों के प्राप्त होने योग्य (लोकान्) स्वर्गादि लोकोंको (प्राप्य) प्राप्त करके तहां (शाश्वतीः) बहुत (समाः) वर्षोंतक (उषित्वा) निवास करके फिर (शुचीनाम्) पवित्र आचरण करनेवाले (श्रीम-ताम) धनवानोंके (गेहे) घरमें अर्थात् कुलमें (अभिजायते) उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

भावार्थः— श्यामसुन्दर आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र बोले हे अर्जुन ! तूने जो योगभ्रष्टकी गतिके विषय प्रश्न किया तिसका उत्तर सुन ! (योगभ्रष्टः) योगसे भ्रष्ट प्राणियोंके दो भेद हैं— प्रथम मन्दा-भ्यासी अर्थात् वह जिसने योगका आरम्भ तो करदिया पर मन्द अभ्यासके कारण शीघ्र मृत्युको प्राप्त होगया अर्थात् अन्तःकरणकी स्वच्छता प्राप्त न होनेके कारण मृत्युके समय विषयमें उसकी थोडी बहुत प्रवृत्ति बनी रही । दूसरा चिरकालाभ्यासी अर्थात् वह जिसने अन्तःकरण की शुद्धि लाभ करतेहुए विषयोंकी कामना त्याग, योगकी पूर्ति करते-करते फल लाभ होनेके समय मृत्युके वश पडगया । अब मैं तुझे पहले मन्दाभ्यासी योगभ्रष्टकी गति सुनाता हूं सुन ! [प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः] जो मन्दाभ्यासी योगभ्रष्ट अपने मन्द अभ्यासके कारण योगकी पूर्ति न करसका वह वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक इत्यादि लोकोंको

प्राप्त होकर तहां सहस्रों वर्षों तक निवास करता है और नाना प्रकार के सुखोंको भोगता है।

तहां कौन-कौनसे सुख भोगनेमें आते हैं? पद्मपुराण भू खण्ड अध्याय ६ में जैमिनि सुबाहुसे कहते हैं सुनो! पाठकोंके बोधार्थ वर्णन किये जाते हैं।

"नन्दनादीनि दिव्यानि रम्याणि विविधानि च।
तत्रोद्यानानि पुण्यानि सर्वकामशुभानि च॥
सर्वकामफलैर्वृक्षैः शोभितानि समन्ततः।
विमानानि सुदिव्यानि परीतान्यप्सरो गणैः॥
सर्वत्रैव विचित्राणि कामगानि रसानि च।
तरुणादित्यवर्णानि मुक्ताजालान्तराणि च॥
चन्द्रमण्डलशुभ्राणि हेमशय्यासनानि च।
सर्वकामसमृद्धाश्च सुखदुःखविवर्जिताः॥
नराः सुकृतिनस्ते तु विचरन्ति यथासुखम्।
न तत्र नास्तिका यान्ति न स्तेया नाजितेन्द्रियाः॥
न नृशंसा न पिशुनाः कृतघ्ना न च मानिनः।
सत्यास्तपःस्थिताः शूरा दयावन्तः क्षमापराः॥
यज्वानो दानशीलाश्च तत्र गच्छन्ति ते नराः।
न रोगो न जरामृत्युर्न शोको न हिमादयः॥
न तत्र क्षुत्पिपासा च कस्य ग्लानिर्न दृश्यते।
एते चान्ये च बहवो गुणाः सन्ति तु भूपते!॥"

अर्थ— तहां तिस इन्द्रलोकमें नाना प्रकारके नन्दनादि वन बड़े रमणीय और दिव्य हैं जहां भांति-भांतिके परम पवित्र उद्यान

अर्थात् पुष्प-बाटिकाएँ लगी हैं। जिनके देखनेसे मानो सर्व प्रकारके मनमांगे आनन्दोंकी पूर्ति होती है। जिनके चारों ओर यथेष्ट फलोंसे लदेहुए सुन्दर-सुन्दर वृक्ष लगे हैं। जहां बडी-बडी सुन्दर अप्सराओंसे भरेहुए दिव्य विमान सवारीके लिये मिलते हैं। जहां देखिये तहां ही विचित्र प्रकारके मनमाने रसभरे पदार्थ सुशोभित हैं। बालरविकी ज्योतिके समान मुक्तासे गुथीहुई जालियां पडीहुई हैं। चन्द्रमण्डलकी किरणोंके समान उज्वल वस्त्रोंसे अलंकृत शय्याएँ और आसन बनेहुए हैं। जो कुछ मनोवांछित हो उसी प्रकारकी विभूतियोंके साथ दुःखसे वर्जित पुरुष सुख पूर्वक विहार करते हैं। ऐसे स्वर्गलोकमें नास्तिक, चोर, अजितेंद्रिय (कामी) निर्लज्ज, निन्दक, कृतघ्न (उपकारके बदले अपकार करने वाले) अहंकारी इत्यादि नहीं जासकते हैं। वरु सत्यवादी, तपस्वी, शूर, दयावान्, क्षमाशील, विविध प्रकार यज्ञोंके करनेवाले और दानी जाकर प्रवेश करते हैं। वहां न रोग है, न जरा (बूढापन) है, न मृत्यु है, न शोक है, न हिमादिका कष्ट है, न भूख है, न प्यास है और न किसी प्रकारकी ग्लानि है। इनसे अतिरिक्त हे भूपते! और भी अनेक प्रकारके गुण स्वर्गमें हैं।

एवम्प्रकार जो योगभ्रष्ट इन्द्रलोकका अधिकारी होता है वह उक्त सुखोंको भोगता है। जो अधिकारी इससे भी अधिक परिश्रम करगया है उसको इन्द्र भी स्वयं बडे आदर और सत्कार-पूर्वक अपने साथ बिमानपर चढा प्रजापतिलोकको पहुंचाता है। तहां सो प्राणी प्रजापतिलोकके आनन्दको जो इन्द्रलोकसे (१००००) दस सहस्रगुण

अधिक है बहुतकालतक भोगता है। इन योगभ्रष्टोंमें जिसने योगमार्गमें कुछ और अधिक प्रवेश करलिया है उसे तो प्रजापति भी आदरऔर सत्कारपूर्वक ब्रह्मलोकको पहुंचाता है। सो ब्रह्मलोकके सुखको (शाश्वतीः समाः) बहुतकालतक भोगता है। प्रमाण— श्रु० "स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकं तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मलोकस्यारोहृदो मुहूर्त्ता येष्टिहा विजरा नदी तिल्यो वृक्षः सायुज्यं संस्थानमपराजितमायतनमिन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ विभुं प्रमितं विचक्षणाऽसन्ध्यमितौजाः पर्यंकः प्रिया च मानसी……"
(कौषितक्यु० अ० १ मं ३ में देखो)

अर्थ— सो **योगभ्रष्ट-पुरुष** प्रथम अन्य लोकोंसे होताहुआ वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक इत्यादिका आनन्द लेताहुआ ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। अर्थात् जिस योगीने मरनेसे पहले इस संसारमें जितना अधिक योग साधनकिया तदनुसार अधिकसे अधिक लोकोंके सुखोंको प्राप्त होता है। इनमें जो सबसे अधिक श्रद्धावान् योगकी **संप्रज्ञात-समाधि** तक साधन करचुका पर **असंप्रज्ञातसमाधि** तक नहीं पहुंचसका मध्यमें मृत्युको प्राप्त होगया तो वह प्राणी यद्यपि योगभ्रष्ट है तथापि वह ब्रह्मलोकके सुखको प्राप्त होता है। सो श्रुति कहती है, कि (**आरोहृदः**) तिस ब्रह्मलोकके मार्गमें एक आर नामका हृद (तालाब) है जो अत्यन्त गम्भीर है जो ब्रह्मलोक पहुंचनेवालेको मध्य मार्गमें मिलता है अर्थात् इसका नाम × आरोहृद

× **आरोहृदः**— "अ रभिः कामक्रोधादिभिर्विरचितत्वेनाऽरेति नाम हृदः"
(शंकरानन्दः)

इसी कारण है, कि काम क्रोधादि जो योगियोंके शत्रु हैं उनके द्वारा रचागया है इसलिये ब्रह्मलोकके मार्गमें बाधा डालनेवाला है । पर जो साधक प्रबल है वह तैरकर निकलजाता है । इस आरोह्रदके अभिमानी देवता भी हैं जो येष्टिहा कहलाते हैं । जो ब्रह्मलोक जानेवालेको बरबस रोक टोक करके हृदयमें क्रोधका उत्पादन करते हैं जिससे कच्चा अधिकारी तो व्याकुल हो उपासनाका ध्यान छोडदेता है। पर जो पक्का अधिकारी है वह इनकी एक भी नहीं मानता । इनका मानभंग करके आगे बढता है । जब आगे निकलजाता है तो एक विजरानदी और (इल्वबृक्ष) इल्वनामका वृक्ष मिलता है इसीको सोमवसन भी कहते हैं । यह विजरानदी जगको नाश करनेवाली है और उसके किनारे जो इल्वनामा वृक्ष है सो ऐसा सघन है, कि उसके नीचे जातेही उस श्रमका नाश होजाता है जो आरोह्रदके तैरनेमें अधिकारीको होता है । क्योंकि इसके नीचे शीतल, सन्द, सुगन्ध वायु वह रही है और इस विजरा नदीमें स्नान करनेसे सर्वप्रकारके श्रमोंका नाश होकर दिव्यमूर्त्ति अर्थात् ब्रह्मलोक निवासियोंके ऐसा स्वरूप मिलजाता है । इसी नदीके किनारे-किनारे थोडा आगे बढनेसे " सायुज्यं संस्थानम् " सालके वृक्षोंकी छाया अर्थात् शाखाएँ जो झुककर धनुषाकार बनगई हैं फैलीहुई हैं। जिनके नीचे अनेक प्रकारकी वाटिकाएँ कूप तडागादि वर्त्तमान हैं । तहां ब्रह्मलोक निवासियोंका संस्थान है । सो स्थान कैसा है ? कि " अपराजितमायतनम् " किसी अन्य देवता देवीके स्थानोंके सामने पराजित होने योग्य नहीं है । अत्यन्त सुन्दर विस्तृत ब्रह्माका निवासस्थान है, जिसके इन्द्र

और प्रजापति (द्वारगोपौ) द्वारपाल हैं । फिर वह स्थान कैसा है, कि " विभुप्रमितम् " अधिकसे अधिक ऐश्वर्य्यसे भरा है फिर " विचक्षणाऽऽसन्दी " जहां सभा मन्दिरके मध्य अत्यन्त कुशल तथा विलक्षण आसन्दी (वेदी) बनीहुई है जिसमें नानाप्रकारके मणि, माणिक, लाल, पिरोजा, हीरे इत्यादि जडेहुए हैं । इसीको बुद्धि और महत्तत्त्वकी वेदीके नामसे पुकारते हैं । तिस वेदीके ऊपर " अमितौजाः पर्य्यङ्कः " अमित पराक्रमवाली एक शय्या है जहां ब्रह्मा विराजमान होते हैं और उनके साथ मानसी प्रिया जो ब्रह्माणी है वहां विराजमान है । तहां अधिकारीजन पहुंचकर नानाप्रकारके अमितसुखका लाभ करता है । पर यहांके सुखोंको भी भोगकर फिर संसारमें लौटता है । यहां श्रुतिने जो सुख दिखलाया वह सब मानुषी सुखके स्वरूपमें दिखलाया अर्थात् उद्यान, वाटिका, स्वर्णपुष्पकी डालियां, वेदी, पर्य्यंक और प्रिया इत्यादि सब मानुषी सुखके स्वरूप हैं । पर श्रुति क्या करे मनुष्यको मानुषी सुख छोड अन्य किसी प्रकारके सुखका अनुभव नहीं होसकता । इसलिये उन विलक्षण सुखोंको मानुषी सुखके स्वरूपमें दिखलाना पडा नहीं तो यथार्थमें इन लोक लोकान्तरोंके सुख मानुषी सुखसे विलक्षण और कई सहस्रगुण अधिक हैं । विलक्षण सुखका स्वरूप भिन्न-भिन्न लोकान्तरोंमें उनके अपने शरीर इन्द्रियां और अन्तःकरणके अनुसार हैं जिन्हें वेही जानते हैं जो वहां पहुंचते हैं । अन्य नहीं जान सकते ।

प्रश्न— जब योगभ्रष्ट ब्रह्मलोक तकके सुखको प्राप्त होता है

तो जो योगी सर्वप्रकार योगमें कुशल है वह किस महान् सुखको प्राप्त होता है ?

उत्तर— योगकुशल प्राणीने तो पूर्णप्रकार वैराग्यको साधनकर इस लोकसे ब्रह्मलोक तकके सुखका तिरस्कार करदिया है । वह तो केवल भगवत्स्वरूपका सुख चाहता है जिसके सम्मुख ब्रह्मलोकादिके सुख ऐसे हैं जैसे महान् समुद्रके सामने जलका एक छोटा कण । इसलिये जो परम योगी है वह ब्रह्मलोकके सुखकी ओर तो आंख उठाकर देखता भी नहीं वह तो केवल भगवत्स्वरूपको ही चाहता है । इस विषयको भगवान् पहले ही कह आये हैं, कि जो योगी सर्वप्रकारके कल्मषोंसे रहित होकर केवल आत्मामें मग्न है वही अतिशय सुखको लाभ करता है " सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते " (देखो श्लो० २८)

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार जो अपक्वयोगी कुछ कामना लियेहुए योगभ्रष्ट होगया है वह चिरकाल पर्य्यन्त भिन्न-भिन्न लोकोंके सुखोंको भोगकर फिर इस संसारमें लौटता है तहां [शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते] सो योगभ्रष्ट पवित्र धनवान् कुलमें उत्पन्न होता है ।

शंका— पवित्र धनवान् कुल क्यों कहा ? केवल धनवान् कुल क्यों नहीं कहा ?

समाधान— धनवान् तो यवन, राक्षस, म्लेच्छादि भी होते हैं

जैसे रावण जरासन्ध इत्यादि । बहुतेरे नास्तिक भी धनवान् होते हैं बहुतेरे कसाई (चाण्डाल) भी धनवान् होते हैं । पर ऐसे धनवान्के कुलमें योगी जन्म नहीं लेता । क्योंकि ऐसोंके कुलमें जन्म लेनेसे बुरे सत्संगवश उसके योगकी हानि होनेकी शंका है । पर धनवान् ब्राह्मण क्षत्रिय इत्यादि उत्तम द्विजाति कुलमें जन्म लेनेसे धन द्वारा कूप, बावली, तडाग, धर्मशाला, यज्ञशाला, पाठशाला, देवमन्दिर, साधुओंका उत्तरणस्थान इत्यादि बनवाता रहता है । तहां कोई महात्मा विचरतेहुए पहुंचगये तो उनकी संगति होनेसे उस योगभ्रष्ट प्राणीको योगसाधनमें उन्नति करनेका अवकाश मिलता है । अर्थात् जहांसे भ्रष्ट होगयाथा तहांसे फिर उसे अपने योगके संभालनेका मार्ग मिलजाता है ।

शंका— क्या योगभ्रष्ट अपवित्र धनवान् कुलमें भी जन्म लेकर पराक्रम और तेजसे उस अपवित्र कुलको पवित्र नहीं करसकता ?

समाधान— हां यदि उस योगके साथ भगवद्भक्ति मिली हो तो अवश्य अपवित्रको पवित्र करसकता है । जैसे प्रह्लादभक्तने हिरण्यकश्यपके गृहमें जन्म लेकर राक्षस कुलको पवित्र करदिया और हिरण्यकश्यपको भगवान्के हाथसे बध करवाकर मुक्ति और भगवच्चरणोंकी भक्ति प्रदान करवायी । पर ऐसा संयोग बहुतही कम होता है । इसलिये यह सिद्धान्त है, कि जो योगभ्रष्ट कुछ विषयसुखकी वासना लियेहुए शरीर परित्याग करता है वह अवश्य

भिन्न-भिन्न लोक लोकान्तरोंके सुखोंको भोगताहुआ फिर लौटकर पवित्र धनवान कुलमें जन्म लेता है जहां उसे अपने योगके पूर्ण करनेका अवकाश मिलता है। प्रमाण— श्रुति० " तद्य इह रमणी-याचरणाअभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा " । (छांदो० उ० प्र० ५ श्रु० ७) अर्थ— जो इस लोकमें शुभ आचरणोंका अभ्यास करनेवाला है सो अवश्य रमणीय योनियोंको प्राप्त होता है । अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वा वैश्य योनिको प्राप्त होता है यद्यपि पवित्र धनवान-कुलमें जन्म लेनेसे प्रकारके प्रतिबन्ध (रुकावटें) योगभ्रष्टकी क्रियाकी उन्नतिमें उत्पन्न होते हैं तथापि उन प्रतिबन्धकोंको नाश करके अपने योग-पथपर आरूढ होजानेका अवकाश भी मिलता है । अर्थात प्रतिबन्ध और अवकाश इन दोनोंमें जिसकी प्रबलता होती है वही अपनी ओर खींचलेता है इसलिये श्रीमानोंके कुलमें उत्पन्न होनेवाले भ्रष्ट योगियोंको स्मरण रखना चाहिये, कि किसी भी संगतिमें अपनेको न डाले । यदि ऐसी संगति सम्मुख आ भी जावे तो उसे अपने प्रबल पुरुषार्थ द्वारा हटा दिया करें ॥ ४१ ॥

यहां तक तो मंदाभ्यास वाले योगियोंकी गति कहकर अब भगवान् दूसरी श्रेणी अर्थात चिरकालके अभ्यासवाले योगभ्रष्टोंकी गति कहते हैं जिनके हृदयसे मरणसे पहले विषयोंकी अभिलाषा छूटगई है और साधुसंगमसे अभ्यास और वैराग्यकी सीढीपर चढकर योगकी पूर्त्तितक पहुँचते—पहुँचते मृत्युको प्राप्त होगये हैं ॥

मू०— अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

पदच्छेदः— अथवा (अथेत्यन्तरम् । पूर्वोक्तगति कथनानन्तरम् वा) धीमताम् (तत्त्वविचारयोग्यबुद्धिमताम् । ब्रह्मविद्यावताम्) योगिनाम् (ईश्वराराधन लक्षण योगवताम) कुले (वंशे) एव (निश्चयेन) भवति (जायते) हि (यत्) [इह] लोके (संसारे) ईदृशम् (एतादृशम । एवतुल्यम्) यत् जन्म (उत्पत्तिः) एतत (एवं विधम्) दुर्लभतरम् (दुर्लभादपि दुर्लभम् । सर्व प्रमादकारण भोगवासना शून्यत्वेन केनचित् पुण्यातिशयेन दुर्लभम्) ॥ ४२ ॥

पदार्थः— (अथवा) अथवा वह चिरकालाभ्यासी योग भ्रष्ट प्राणी (धीमताम्) ब्रह्मतत्त्वके विचारकरने योग्य बुद्धिमान् (योगिनां) योगियोंके (कुले) कुलमें (एव) निश्चयकरके (भवति) जन्म लेता है । (हि) वस्तुतः तो (लोके) इस संसारमें (ईदृशम्) इस प्रकारका (यत् जन्म) जो जन्म है सो (एतत) इस लोकमें (दुर्लभतरम्) दुर्लभसे भी अधिक दुर्लभ है । क्योंकि धनवानोंके कुलमें तो नाना प्रकारके विषयोंके उपद्रव बनेरहते हैं जो आगे उत्तम गतिकी उन्नतिमें प्रतिबन्धक है पर योगियोंके कुलमें किसी प्रकारका उपद्रव नहीं रहता इस कारण भगवान् कहते हैं, कि ऐसा जन्म दुर्लभतर है ॥४२॥

भावार्थ:— श्री गोलोक विहारी जगत्-हितकारीने जो पूर्व श्लोकमें गति कही है वह उन योगभ्रष्टोंकी कही है जो मन्दाभ्यासके कारण कुछ विषय बासनाको लियेहुए मृत्युको प्राप्त होते हैं। इसी-कारण उनको धनवान्के कुलमें जहां नानाप्रकारके विषयोंका संग्रह रहता है जन्म लेना पडता है। पर अब इस श्लोकमें उन योगभ्रष्टों की गति कहरहे हैं जो चिरकाल योगाभ्यास करनेके कारण सर्व प्रकार की विषयबासनाओंसे रहित होजाते हैं। जिनका अन्तःकरण शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल होजाता है। पर वे क्या करें योगकी पूर्त्ति होते-होते कालके गालमें चलेजाते हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि [**अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्**] अथवा उच्च श्रेणीके योगभ्रष्टोंका जन्म उन योगियोंके कुलमें होता है जो ब्रह्म-विद्यासे सम्पन्न होनेके कारण बडे बुद्धिमान् कहलाते हैं। अर्थात् महापुरुषोंके वंशमें परम्परासे योगियों ही की उत्पत्ति होती चली आयी है।

शंका— योगियोंका तो कुल नहीं होता है क्योंकि योगी सब प्रकारके उपद्रवोंको त्यागकर एकाकी हो ब्रह्म-पथमें समय बिताते हैं उनका कुल वा वंश कैसे बन सकता है ?

समाधान— ऐसी शंका निर्मूल है। क्योंकि योगतत्त्वके साधनकी आज्ञा केवल सन्न्यासियोंको ही नहीं है गृहस्थोंको भी पूर्ण योग करनेकी आज्ञा है। धर्मपत्नीके संग रहनेसे योगमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं होसकती। देखो योगी याज्ञवल्क्यकी गार्गी और

मैत्रेयी दो धर्मपत्नियां थीं। आत्रेयीके साथ उनकी स्त्री अनसूया सदा निवास करती थी। योगके आचार्य श्री वशिष्ठजी महाराजकी अरुन्धती नामकी पत्नी सदा संगमें रहती थी। तात्पर्य यह है, कि योगियोंका धर्मपत्नियोंके संग रहना प्रसिद्ध है। इसलिये उनके वंश परम्परा होनेमें तनक भी शंका मतकरो!

शंका— भगवान्ने यहां योगियोंके साथ "धीमताम्" पदका प्रयोग क्यों किया? क्या योगी बुद्धि रहित भी होते हैं?

समाधान— भगवान्ने पिछले अध्यायोंमें अर्जुनके प्रति कर्मयोग और ज्ञानयोगका कथन करते चले आये हैं। जैसे अध्याय २ श्लोक ३९में कहा है, कि "**एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु**" फिर अध्याय ३ के श्लो० ३ में कहा है, कि "**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्**"(इन श्लोकोंका अर्थ इन श्लोकोंकी व्याख्या में देखलो) इन श्लोकोंके अर्थके देखनेसे ज्ञात होगा, कि दो प्रकार के योगी होते हैं। एक कर्म-योगी दूसरे ज्ञान-योगी। इन दोनोंमें ज्ञानयोगियोंको बुद्धिसे सम्बन्ध है इसी कारण इस ज्ञानयोगको बुद्धि योग भी कहते हैं। पहले अधिकारी कर्मयोगका साधन करता है जब कर्मयोगका साधन करते-करते अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होजाती है तब सर्व ओरसे निष्काम होकर ब्रह्मानन्दमें मग्न होजाता है और उसकी प्रज्ञाकी स्थिरता होजाती है। इसी कारण वह स्थितप्रज्ञ कहाजाता है।

इसलिये यहां " धीमताम् " शब्द कहनेसे मूर्ख वा बुद्धिमान्का तात्पर्य्य नहीं हैं वरु धी शब्दसे तात्पर्य्य बुद्धियोग जो ज्ञानयोग है। इसलिये भगवान्का तात्पर्य्य यह है, कि जिस योगीने कर्मयोग समाप्त करके ज्ञानयोगको भी प्राप्त करलिया है अर्थात कर्म और सांख्य दोनोंमें पूर्ण होरहा है और कैवल्य परम पदका अधिकारी होरहा है (ऐसेको ही धीमान् कहते हैं) और ऐसेहीके कुलमें चिरकालाभ्यासी निष्काम योगभ्रष्ट उत्पन्न होता है। शंकामतकरो।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म-यदीदृशम्**] इसप्रकार जो योगियोंके कुलमें जन्मलेता है सो अतिशय दुर्लभ है। अर्थात पहले जो पवित्र धनवानके कुलमें जन्म लेना कह आये तिससे अधिक श्रेष्ठ बुद्धि युक्त योगियोंके कुलमें जन्म लेनेसे योग साधनका अवकाशतो अवश्य मिलेगा। पर धनवानके कुलमें नाना-प्रकारके विषयोंका संग रहता है। इसलिये संभव है, कि विषयोंके संगसे उस प्राणीका चित्त चलायमान होजावे और बुद्धि भ्रष्ट होजावे

"मनोहराणां भोज्यानां युवतीनाञ्च वाससाम्।
चित्तस्यापि च सान्निध्याच्चलेच्चित्तं सतामपि ॥"

अर्थ— मनोहर भोजनके पदार्थ मनोहर स्त्रियों तथा मनोहर वस्त्रोंकी समीपताके कारण बडे-बडे श्रेष्ठ बुद्धिमानोंका भी चित्त चलयमान होजाता है इसीलिये योगियोंके लिये आज्ञा है, कि " तत्सान्निध्यं ततस्त्यक्त्वा मुमुक्षुर्दूरतो वसेत् " मुमुक्षु इनकी समीपतासे दूर रहे। सो यह बात योगियोंहीके कुलमें होसकती है।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि इस प्रकारका जन्म अर्थात् योगियोंके कुलमें जन्म लेना दुर्लभ तर है। वरु दुर्लभसे भी दुर्लभ है। योगियोंके कुलमें जन्म लेना दुर्लभतर क्यों कहा? सो सुनो! योगियोंके कुलमें किसी प्रकारका उपद्रव नहीं केवल भिक्षासे पेटभर लेना, पृथ्वीपर शयन करजाना और निरुपद्रव रहकर दिनरात अपने योगकी उन्नतिमें लगे रहना है। इसलिये इस प्रकारका जन्म दुर्लभतर कहा गया है ॥ ४२ ॥

श्रीमानोंके अथवा धीमान् योगियोंके कुलमें जन्म लेनेसे योगभ्रष्टोंको योगमें उन्नति करनेका क्यों अवकाश मिलता है? सो भगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं—

मू०— तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ! ॥ ४३ ॥

टिप्प० शंका—योगियोंको तो इच्छामरणकी प्राप्ति होती है फिर मृत्युके वश होकर योगभ्रष्ट होना क्यों कहा?

समाधान—ये दोनों बातें इच्छामृत्यु प्राप्त करनी और योगभ्रष्ट होना एक दूसरेके प्रतिकूल हैं क्योंकि जबतक योगीने पूर्ण परिश्रम करके इतना योगबल नहीं प्राप्त करलिया, कि मृत्युको जय करे तबतक वह इच्छामरणवाला नहीं कहा जासकता योगभ्रष्ट ही कहा जावेगा। ऐसेही योगभ्रष्ट योगीके लिये भगवान्ने इस श्लोकमें कहा है, कि पवित्र श्रीमान्के कुलमें अथवा धीमान् योगीके कुलमें जन्मलेगा। क्योंकि इच्छामरण प्राप्त करनेवाला तो मुक्त ही होजायगा उसे कभी किसी कुलमें जन्मलेना नहीं पड़ेगा।

पदच्छेद:— कुरुनन्दन ! (हे कुरुकुलानन्दवर्द्धन अर्जुन !) तत्र (द्विविधेऽपि जन्मनि) पौर्वदेहिकम् (पूर्वस्मिन् देहे भवम्) तम्, बुद्धिसंयोगम् (ज्ञानसंस्कारम् । यावती च योगभूमिः पूर्वजन्मनि जिता तत्र च यावान्बुद्धिलाभो जातस्तावन्तम् । गुरूपदेशश्रवणमनन-निदिध्यासनानां मध्ये यावत्पर्य्यन्तमनुष्ठितं तावत्पर्य्यन्तमेव ब्रह्मात्मैक्य विषयबुद्ध्या संयोगम्) लभते (प्राप्नोति) च (तथा) ततः (तल्लाभानन्तरम् तस्मात्पूर्वकृतात्संस्काराद्वा) भूयः (बहुतरम्) संसिद्धौ (ऊर्द्ध्वभूमिकालाभार्थमविलम्बेन साक्षात्कैवल्यप्राप्तौ) यतते (प्रयत्नंकरोति) ॥ ४३ ॥

पदार्थः-- (कुरुनन्दन!) हे कुरुकुलके आनन्दकी वृद्धि करनेवाला अर्जुन ! सो योगभ्रष्ट (तत्र) श्रीमानोंके अथवा योगियोंके कुलमें जन्मलेकर (तम्) तिस (पौर्वदेहिकम्) पिछले शरीरवाले (बुद्धिसं-योगम) बुद्धि—संयोगको (लभते) प्राप्त करता है अर्थात् जहां-तक मोक्ष साधनकी बुद्धि पूर्वदेहमें प्राप्त करचुका था वहांतक इस दूसरे शरीरमें बिना किसी यत्नके अनायास ही लाभ करता है (ततः) तत्प-श्चात् (भूयः) फिर अधिकतर (संसिद्धौ) अर्थात् पिछली बुद्धि लाभकरनेके पीछे अगली भूमिकाकी सिद्धिके लिये अर्थात् मोक्षतक पहुंच जानेके लिये (यतते) यत्न करता है ॥ ४३ ॥

भावार्थः— योगभ्रष्ट प्राणियोंको श्रीमानोंके तथा धीमान योगियोंके कुलमें जन्मलेने और योगमें उन्नति करनेका अवकाश क्यों मिलता है ? उसे भगवान कहते हैं, कि [तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्व-

देहिकम्] दोनों प्रकारके कुलोंमेंसे किसी एक कुलमें जन्म लेकर योगभ्रष्ट पुरुषने अपने पूर्वशरीरमें योगसाधनसे जहांतक बुद्धिका संयोग लाभ कियाथा दूसरे जन्ममें भी अनायास उसी भूमिका तककी बुद्धिका संयोग लाभ करता है । अर्थात विना किसी परिश्रमके, विना किसी शास्त्रके अध्यन किये, विना किसीसे कुछ पूछे, आपसे आप एकबारगी उसकी बुद्धिका संयोग उसी पूर्वदेहार्जित भूमिकातक पहुंचजाता है । जैसे महाराज उत्तानपादके घरमें जन्मलेकर बचपन ही से ध्रुवके हृदयमें त्यागका अंकुर उत्पन्न हुआ । कारण यह है, कि पूर्व-जन्ममें सो ध्रुव वैराग्यका साधन करचुका था इसी कारण फिर इस जन्ममें उसकी बुद्धिका वैराग्यके साथ संयोग होगया । इसीप्रकार व्यासके घरमें जन्म लेतेही शुकदेवजीकी बुद्धिका संयोग पूर्वजन्मार्जित परमहंस तत्त्वके साथ होगया इसी कारण जन्मलेतेही घरसे बाहर निकलगये ।

अब भगवान कहते हैं, कि [यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन !] हे कुरुनन्दन ! पौर्वदेहिक भूमिकाको लाभ कर इस वर्त्तमान देहमें फिर उसी भूमिकासे साधनका आरम्भ करता है और वैसेही गुरुकी शरण जापहुंचता है जो उसकी बुद्धिसंयोगसे अधिक बुद्धि-संयोग वाला हो । क्योंकि जबतक शिष्यकी अपेक्षा * गुरु अधिक भूमिकाको सिद्ध किये हुए नहीं होगा, तब तक वह गुरु उपदेश करनेका अधिकारी नहीं होसकता ।

* जबसे यह गुरुप्रणाली भ्रष्ट हुई तबसे अधिकारीको उसके सन्तोषके योग्य गुरु नहीं मिलता इसलिये व्याकुल हो बिना गुरु रहना पड़ता है । इसी कारण बहुतेरे जिज्ञासु सनातनधर्मसे निकल दूसरे मतमें चलेजाते हैं ।

इसी कारण अधिकारीको चाहिये, कि जहां जिस गुरुसे सन्तोष हो, अपनेसे अधिक बुद्धिमान्, विद्वान, योगीको चाहे गृहस्थ हो अथवा सन्यासी हो गुरु करलेवे जिससे भगवत्स्वरूपके लाभमें सहायता मिले। क्योंकि गुरु शब्दका अर्थ ही यह है, कि "गृणाति उपदिशति वेदादि शास्त्राणि शिष्येभ्यः यद्वा गीर्यते स्तूयते शिष्यादिभिरिति गुरुः" फिर कहा है, कि "गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य हारकः। उकारोविष्णुरव्यक्तस्तितयात्मागुरुः परः। अर्थ स्पष्ट है। "गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानाम्ब्राह्मणो गुरुः॥ पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वत्राभ्यागतो गुरुः॥

अर्थ— द्विजोंका गुरु अग्नि है, वर्णोंका गुरु ब्राह्मण है। स्त्रियोंके लिये पति ही गुरु है और इन सबोंका सब देश और सब कालमें सन्न्यासी ही गुरु है। "युक्तिकल्पतरु" ग्रन्थमें लिखा है, कि "सदाचारः कुशलधीः सर्वशास्त्रार्थपारगः। नित्य नैमित्तिकानां च कार्याणां कारकः शुचिः।" अर्थ— जो सदाचारसे पूर्ण हो अर्थात् सत्त्वगुण विशिष्ट जिसके आचरण हों, बुद्धिमान् हो, सर्वशास्त्रवेत्ता हो और नित्यनैमित्तिक कर्मोंका सम्पादन करनेवाला हो ऐसे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठको गुरु करना चाहिये। फिर "तंत्रसार" ग्रन्थका वचन है, कि "शान्तो दान्तः कुलीनश्च विनीतः शुद्धवेषवान्। शुद्धाचारः सुप्रतिष्ठः शुचिर्दक्षः सुबुद्धिमान्। अर्थ— स्वभावसे सदा शान्त हो, दांत अर्थात् तपक्लेशका सहनेवाला हो, इन्द्रियोंका दमन करनेवाला हो, विनय सम्पन्न और शुद्ध वेषवाला हो। यदि गृहस्थ हो तो जैसा गुरुओंकेलिये

शास्त्रने शुद्ध वेष रखना लिखा है वैसे ही वेषवाला हो, शुद्धाचार हो, व्यभिचार, कपट, छल, प्रपंच इत्यादि दुष्कर्मोंमें फंसा न हो, सुप्रतिष्ठ हो अर्थात् विद्वान् तथा बडे-बडे राजा महाराजा जिसकी प्रतिष्ठा करनेवाले हों। शुचि अर्थात् स्नानादिसे शरीरको पवित्र रखता हो। दक्ष अर्थात् ज्ञानी हो और सुन्दर बुद्धिवाला हो ऐसा पुरुष गुरु होनेका अधिकार रखता है।

अब देखाजाता है, कि इन सब प्रमाणोंमें बुद्धिमान् शब्दका प्रयोग कियागया है। इसी कारण सिद्धान्त होता है, कि शिष्यकी बुद्धिका संयोग योगकी जिस भूमिका तक पहुंचगया हो उससे अधिक भूमिका तक पहुंचीहुई बुद्धिवालेको गुरु करना चाहिए।

इसलिये भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन! योगभ्रष्ट प्राणीका ऐसे ही कुलोंमें जन्मलेना दुर्लभतर है। क्योंकि ऐसे ही कुलोंमें उससे अधिक बुद्धिमान् गुरुद्वारा उसकी अगली भूमिकाकी प्राप्तिका संयोग होता है। इसी विषयको श्री रघुकुल-नायक जन-सुखदायक भक्तवत्सल भगवान श्री कौशलकिशोर भक्तचितचोर श्री रामचन्द्रजीने संसारके कल्याण निमित्त श्री वशिष्ठजीसे पूछा है, कि— " + एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां भूमिकामुत। आरूढस्य मृतस्यास्य कीदृशी भगवन्! गतिः ॥ "

+ बुद्धिसंयोगका वर्णन जो इस श्लोकमें कररहे हैं उसका सम्बन्ध जिन भूमिकाओंके साथ होता है उन सप्तभूमिकाओंकी व्याख्या अ० २ श्लो० ६८ में देखो

अर्थ— हे भगवन ! प्रथम द्वितीय और तृतीय भूमिकातक चढकर जो योगी मृत्युको प्राप्त होगया हो तो उसकी कैसी गति होती है ?

भगवान वशिष्ठ उत्तरदेते हैं, कि हे महाबाहो ! "योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः। भूमिकांशानुसारेण क्षीयते सर्वदुष्कृतम् ॥

अर्थ— जिस प्राणीने योगकी सातों भूमिकाओंकी समाप्ति न करके केवल एक दो वा तीन ही भूमिकातक पहुंच शरीरको छोडदिया तो ऐसे योगभ्रष्टका उसकी भूमिकाके अंशके अनुसार उसके सर्व पाप नाश होजाते हैं।

इस वशिष्ठ वचनानुसार भी योगभ्रष्ट प्राणीको चाहिये, कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ भूमिकाओंतक पहुंचेहुए गुरुकी शरण जाकर क्रिया लाभ करे ।

शंका— श्री भगवान रामचन्द्रने तीसरी ही भूमिकातक पहुंचेहुएका प्रश्न क्यों किया ? चौथीसे सातवीं भूमिकातक जाने वालेके विषयभी क्यों नहीं पूछा ?

समाधान—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावनी और तुरीया इन सातों भूमिकाओंमें प्रथम तीन ही भूमिकाओंका प्राप्त करनेवाला योगी योगभ्रष्ट कहलाता है और उच्चलोकोंसे पतन होकर फिर इस संसारमें आता है। पर जिस

साधककी चौथी भूमिका समाप्त होजाती है वह तो आत्मतत्वका साक्षात्कार करही लेता है। फिर जिसने जीते-जीते आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करलिया, संभव है, कि वह प्राणी मरणके पश्चात् मुक्त होजावे। कदाचित् चतुर्थ-भूमिकामें कुछ न्यूनताके कारण भी लौटना संभव हो तो हो पर जिस साधकने पांचवीं, छठवीं और सातवीं भूमिकाओंकी भी प्राप्ति करली वह तो अवश्य ही जीवन्मुक्ति लाभ करताहुआ विदेहमुक्त हो परमपदको लाभ ही करलेवेगा। उसका लौटना संसारमें नहीं होसकता। इसलिये भगवान श्री रामचन्द्रजीने अन्य भूमिकावालोंकी मुक्तिका अनुमान करके केवल तीन ही भूमिकावालोंके पुनरागमनके विषय वशिष्ठजीसे पूछा है। यहां शंका मत करो!

इस श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको 'कुरुनन्दन' कहकर जो पुकारा है इसका तात्पर्य्य यह है, कि भगवान्ने गुप्तरूपसे अर्जुनको यह बताया, कि तू भी पवित्र श्रीमान् कुलमें उत्पन्न है इसलिये तुझे भी योगभूमिकाकी प्राप्ति है। तू भी अवश्य अपनी योगभूमिकाकी उन्नतिकेलिये यत्न कर! ॥ ४३ ॥

अब अर्जुन भगवानसे पूछता है, कि जो योगभ्रष्ट योगीके कुलमें उत्पन्न हुआ है उसे तो सर्वप्रकारके प्रतिबन्धोंसे रहित होनेके कारण अवश्य अपनी योगभूमिकाका उद्बोध आपसे आप होजावेगा। पर जिस योगभ्रष्टने श्रीमान् कुलमें जन्मलिया उसे तो नाना प्रकारके विषय-भोगोंके कारण कठिन प्रतिबन्ध सम्मुख उपस्थित हैं इसलिये संभव है, कि ऐसे योगभ्रष्टको इस गडबडझालेमें पडकर पूर्व भूमिकाकी

विस्मृति होजावे और तहां बुद्धिका संयोग नष्ट होजावे । जब एवम्प्रकार संयोग नष्ट हुआ तो श्रीमान्कुलमें उत्पन्न प्राणीका पूर्व परिश्रम व्यर्थ गया । इसलिये हे भगवन् ! ऐसे श्रीमान् कुलमें जन्मलेनेवाले पूर्वस्मृति-भ्रष्ट प्राणीकी क्या × दशा होगी ? सो कृपाकर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

पदच्छेदः— सः (श्रीमत्कुलोत्पन्नयोगभ्रष्टः) अवशः बहूनां ज्ञानप्रतिबन्धकानां मध्ये विद्यमानतया विषयादिभिरन्यथा नियतमानः) अपि, तेन पूर्वाभ्यासेन (योगभूमिकायां पूर्वदेहे कृताभ्यासेन । प्रागर्जितयोगसंस्कारेण) एव (निश्चयेन) + ह्रियते (सर्वविरोध्युपमर्दनं क्रियते । सर्वान् प्रतिबन्धकानभिभूयानिच्छन्नपि योगं प्रत्याकृष्टो भवति । अकस्मादेव भोगवासनां स्ववशीकृत्य मोक्षसाधनाभिमुखो भवति) हि (यस्मात्) योगस्य (योगभूमिकायाः) जिज्ञासुः (स्वरूपम् ज्ञातुमिच्छुः) अपि, शब्दब्रह्म (कर्मप्रतिपादितं वेदांशम् । वेदोक्तकर्मानुष्ठानफलम्) अतिवर्त्तते (अतिक्रम्य वर्त्तते अपाकरिष्यति) ॥ ४४ ॥

× इस शंकामें गुप्तरूपसे अर्जुनने अपनी दशा दिखलायी, कि मैं श्रीमत्कुलमें उत्पन्न हुआहूं इसलिये यह महाभारतादि युद्ध मेरेलिये प्रतिबन्ध (रुकावट) का कारण है । सो मुझे कैसे योगतत्त्व लाभ होगा ?

+ हृञः प्रयोगेण सूचयति ।

पदार्थः— (सः) श्रीमानोंके कुलमें उत्पन्न जो योगभ्रष्ट प्राणी है वह (अवशः) ज्ञानके प्रतिबन्धकों (रुकावटों) के वशीभूत होनेपर (अपि) भी (तेन, पूर्वाभ्यासेन) अपने पूर्व देहमें कियेहुए योगाभ्यासके संस्कारसे (एव) निश्चयकरके (ह्रियते) सब उपद्रवोंको जीतकर अर्थात् समेटकर अनायास ही अपनी योगभूमिकामें वर्त्तमान होता है (हि) क्योंकि (योगस्य) योगभूमिकाका (जिज्ञासुः) ढूंढनेवाला (अपि) भी (शब्दब्रह्म) कर्मोंके फलके कहनेवाले वेदके प्रथमभाग कर्मकाण्डको (अतिवर्त्तते) पारकर अपने योगहीमें वर्त्तमान होता है ॥ ४४ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो यह पूछा है, कि श्रीमान् कुलमें उत्पन्न योगभ्रष्टको नाना प्रकारके विषयभोगोंके सम्बन्धसे नाना प्रकारकी रुकावटोंके कारण पूर्वजन्मार्जित योगसंस्कारके नष्ट होनेका भय है वा नहीं? इस प्रश्नका उत्तर देतेहुए श्री आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि [पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः] जो योगभ्रष्ट प्राणी श्रीमानोंके कुलमें जन्म ले नाना प्रकारके विषयभोगोंके वश होजानेपर भी पूर्वजन्मार्जित योगाभ्यासके बलसे योगकी जिस भूमिका तक पहुंच गया था वही भूमिका उसके वर्त्तमान शरीरमें बिना किसी प्रयत्नके आपसे आप उत्पन्न होजाती है। इसमें तनक भी सन्देह नहीं है। अर्थात पूर्वजन्मका योगबल स्वयं उसको अपनी ओर खींच लेता है। जैसे किसी तूँबीको उलटकर कितना भी जलके भीतर दाब लेजाओ पर वह छूटतेके साथ अवश्य पानीके ऊपर आ ही जाती है। इसी प्रकार योगभ्रष्ट भी श्रीमानोंके घरमें जन्मलेकर चाहे कितना भी विषयोंके

बोझसे दबाया क्यों न जावे तथापि पूर्वजन्मके किये हुए योगकी प्रबलता उसे आपसे आप विना किसी यत्नके विषयोंसे निकाल उसकी ऊर्ध्वगति करदेती है। इसीसे उसकी बुद्धिका संयोग ज्ञान और योगके साथ अवश्य ही होजाता है। अर्थात् किसी न किसी समय वह विषयसे उदासीन हो योगकी ओर दृष्टि करेहीगा और योगी हो ही जावेगा।

जैसे इस वर्त्तमानकालमें भी भर्तृहरि, गोपीचन्द इत्यादि अनेक योगभ्रष्ट श्रीमानोंके घर उत्पन्न होकर भी योगी हो ही गये। विषयभोग उनको नहीं रोक सकता।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि " अवशोऽपि " विषयाधीन होनेपर भी पूर्वाभ्यासके द्वारा ह्रियते योगकी ओर खिंच जाता है। देखो! जिस समय नचिकेताके चित्तको पूर्वजन्मार्जित योगवलने योगकी ओर खींचा है, वह अपने पिता यमके पास जाकर योगभूमिकाके विषय जिज्ञासा करने लगा, यद्यपि पिताने उसको योगकी ओर न जानेदेनेकी इच्छासे नाना प्रकारके विषयोंका प्रलोभन दिखलाया और कहा बेटा! योग रोगका कारण है इसलिये तू मुझसे योग छोडकर भोगके पदार्थोंको मांग! मैं तुझे देनेको तयारहूं। पर उसने कुछ न मानी योगहीकी जिज्ञासामें लगगया। प्रमाण— श्रुतिः– " शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥ एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥ ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामां छन्दतः

प्रार्थयस्व । इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः"
(कठोप० अ० १ बल्ली १ श्रुति २३ से २५ तक)

अर्थ—यम अपने पुत्र नचिकेतासे कहता है, कि हे पुत्र ! सौ वर्षकी आयुवाले बेटे पोतेको मांगले ! बहुतसी गऊ, महिषी इत्यादि पशुओंको तथा हाथी, घोडे और सोना चांदी मांगले ! पृथ्वीका बहुत बडा राज्य मांगले ! स्वयं जबतक तेरी जीनेकी इच्छा हो तबतक जीवन मांगले ! इनसे इतर भी जो कामनाएँ मनुष्योंको दुर्लभ हैं सो सब तू मुझसे यथेष्ट मांगले ! सुन्दर रमणी अप्सराओंको रथ और बाजेगाजेसमेत मुझसे मांगले ! और जो मनुष्योंके मिलने योग्य भोग नहीं हैं उनको भी मुझसे मांगले ! एवम्प्रकार मेरी दीहुई मत्प्रत्ताओं (दासियों) से तू अपनी सेवा करा ! पर केवल एक मृत्युके लिये मुझसे मत पूछ !

जब एवम्प्रकार यमने प्रलोभन देकर नचिकेताकी विरक्त बुद्धि विषयकी ओर खींचनी चाही तब नचिकेताने जो अपने पूर्वजन्मके योगबलसे विरक्त होरहा था, जिसकी बुद्धिका संयोग बलात्कार योगकी ओर खिंच रहा था, अपने पिताको यों उत्तर दिया श्रुतिः— "श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवित मल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्तगीते" (कठो० अ० १ व० १ श्रु० २६)

अर्थ— नचिकेता कहता है, कि हे मनुष्योंके अन्त करनेवाले मेरे पिता यम ! ये जो नाना प्रकारके विषय—भोगोंके सुख दिखलाये गये

तिनके संगसे अपनी इन्द्रियोंका तेज जल भुन जाता है । तुमने जो मुझे जीवित रहनेका प्रलोभन दिखलाया सो चाहे कितने काल तकका भी जीवन क्यों न हो, पर उस अनादि और अनन्त ब्रह्मसुखके सामने अल्प ही है । अर्थात् कभी न कभी यह जीवन नाश हो ही जाता है इसलिये तुम्हारी सम्पत्ति, तुम्हारे (वाहाः) हाथी, घोडे और तुम्हारे ये नाच, रंग और गीत सब तुम्हारे ही साथ रहें । मैं इनमें एक भी नहीं चाहता । मैं तो ब्रह्मज्ञानको छोड अन्य कुछ भी नहीं चाहता । यदि देना हो तो कृपा कर मुझे ब्रह्मज्ञान प्रदान करो !

अब इस नचिकेताके उपाख्यानसे ऐसा सिद्ध होता है, कि उसके पूर्वजन्मार्जित-योगका प्रबल संस्कार उसके पिताके रोके भी नहीं रुकसका ।

इसी प्रकार शुकदेवके पूर्व-जन्मार्जित प्रबल संस्कारने जन्म लेते ही उनको परमहंस करदिया उनके पिता व्यासदेव उनके विरहसे व्याकुल हो उनके घर लौटनेके लिये पुकारते रहे पर वे न लौटे ।

इसी प्रकार प्रह्लादको उसके पिताने नाना प्रकारके दण्ड देकर उसकी बुद्धिको ब्रह्म-विद्यासे हटा, विषयकी ओर पलटाना चाहा पर उसकी बुद्धि न लौटी । यहां तक, कि अपने प्रबल संस्कारसे भगवान् को प्रकट ही करदिया ।

तात्पर्य इन उदाहरणोंसे यही है, कि जिस प्राणीमें उसके पूर्व-जन्मके योगसाधनका कुछ संस्कार रहता है उसकी बुद्धि अवश्य

फिर अगले जन्ममें उसी योगकी ओर स्वाभाविक खिंच ही जाती है।

यहां भगवान् कृष्णचन्द्र भी गुप्तरूपसे इस श्लोक द्वारा अर्जुनको यह संकेत करेरहे हैं, कि तू भी जो इस समय रण छोड सन्न्यास धारणकी इच्छा करेरहा है इससे यही सिद्ध होता है, कि तू भी अपने पूर्वजन्मार्ज्जित—योगबलसे श्रीमानके घरमें जन्म लेकर इन विषयोंमें रहकर भी विरक्त होना चाहता है।

इतना संकेत करतेहुए अब भगवान आधे श्लोकमें ऐसे योगके जिज्ञासुओंका लक्षण वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते**] एवम्प्रकार जो योगभ्रष्ट पूर्व-जन्मार्ज्जित-योगबलसे इस वर्त्तमान जन्ममें योगका जिज्ञासु है, वह शब्दब्रह्म जो वेद तिसकी कर्मकथाको अतिक्रमण (उल्लंघन) करके आगे बढता है।

शंका— वेदकी आज्ञाके अतिक्रमण अर्थात् उल्लंघन करनेवालोंको तो नास्तिक कहते हैं। क्योंकि " **नास्तिको वेदनिन्दकः** " (मनु० अध्या० २ श्लोक ११ में देखो) जो वेदोंकी निन्दा करे, उन की आज्ञा नहीं माने और तदनुसार नहीं चले, वही नास्तिक है। क्या यह योगभ्रष्ट भी इस जन्ममें नास्तिक होकर योगसाधन करेगा?

समाधान— भगवान्ने यह नहीं कहा है, कि योगभ्रष्ट वेदकी निन्दा वा अपमान करे वा वेदकी आज्ञा नहीं माने। भगवान् तो यह कह रहे हैं, कि उस योगभ्रष्टने पूर्वजन्ममें वेदहीकी आज्ञानुसार

कर्मकाण्डकी समाप्ति करली है । अर्थात् सन्ध्या, हवन, तर्पण, इष्टापूर्त्त, अग्निष्टोम, वाजपेय इत्यादि कर्मोंको करताहुआ उनके फलोंको भगवान्में अर्पण करताहुआ आप निष्काम हो अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करचुका है, उसे फिर लौटकर कर्मकाण्डमें फँसनेकी आवश्यकता नहीं है । जैसे धुलेहुए वस्त्रको रीठे इत्यादि लगाकर धोनेकी आवश्यकता नहीं होती । ऐसा करना समयको व्यर्थ भ्रष्ट-करना है इसलिये भगवानने ऐसा कहा, कि " **शब्दब्रह्मातिवर्त्तते** " योगभ्रष्टप्राणी वेदके कर्मकाण्डभागका अतिक्रमण करके आगे बढता है। जिसको अष्टांगयोगके अंगोंका छठवां अंग × **धारणा** भी कहते हैं और ज्ञानकी सातों भूमिकाओंमें जिसे + **सत्त्वापत्तिनामा** चतुर्थ भूमिका कहते हैं ।

यहां शब्दब्रह्म कहनेसे भगवान्का तात्पर्य्य वेदके कर्मकाण्डवाले प्रथम भागसे है ।

इस शब्दब्रह्मके अतिक्रमण कहनेसे भगवान्का दूसरा अभिप्राय यहभी है, कि योगशास्त्रमें शब्दब्रह्म **अनाहतध्वनिको** भी कहते हैं, योगी इस अनाहतध्वनिको श्रवण करते-करते परब्रह्मको प्राप्त होजाता है । अर्थात जब इस ध्वनिको सुनते-सुनते निःशब्द ब्रह्मको प्राप्त होता है तब ऐसा कहा जाता है, कि इसने शब्दब्रह्मका अतिक्रमण किया

× **धारणाका** वर्णन अध्या० ४ श्लो० २६ में देखो ।

+ **सत्त्वापत्तिका** वर्णन अध्याय ३ श्लो० १८ में देखो ।

अर्थात् शब्दब्रह्मके पार चलागया । प्रमाण—श्रुतिः " अनाहतं च-स्वच्छन्दं तस्य शब्दस्य यत्परम् । तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः " । (अर्थ स्पष्ट है)

तात्पर्य्य यह है, कि शब्दब्रह्मको अतिक्रमण करके जो आगे बढता है वही पूर्ण योगी है इस अनाहतध्वनि-श्रवणको राजयोग वा शून्यसमाधि भी कहते हैं । तहां सब उपायोंमें यह उत्तम उपाय है प्रमाण— "श्री आदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति । नादानुसन्धानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् । "

अर्थ—श्रीआदिनाथने उस ब्रह्ममें लयहोनेके एक करोड पच्चीस लाख उपाय कथन किये तिनमें सबसे उत्तम उपाय हम इसी नादानुसन्धानको मानते हैं ।

पाठकोंके कल्याण निमित्त इस शब्दब्रह्मके अतिक्रमण अर्थात् नादश्रवणसे पार होकर ब्रह्ममें लय होनेका उपाय बतलाया जाता है सुनो ! " मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शाम्भवीम् । शृणु-याद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तस्थमेकधीः " ॥

अर्थ—मुक्तासन जिसे सिद्धासन भी कहते हैं (जिसके लगानेकी रीति इसी अध्यायके श्लो० ११ में बतायी जाचुकी है) तिसमें बैठकर तथा ÷ शांभवीमुद्रा लगा दोनों कर्णपुटोंके भीतर अंगुली डाल दृढता

÷ दोनों नेत्रोंको उलटकर भउहोंके भीतर लेजाकर ज्योतिदर्शन करनेको शांभवीमुद्रा कहते हैं । जिसे भगवान् अ० ५ श्लो० २७ में कहआये हैं "चतुश्चैवान्तरे भ्रुवोः " (गुरु द्वारा जानना)

पूर्वक दबाकर एकाग्रचित्त हो, दाहिने कानकी ओर नादका श्रवण करता जावे। यह नाद + दश प्रकारका है। श्रुतिः— स च दशविध उपजायते चिणीति प्रथमश्चिंचिणीति द्वितीयो घण्टानादस्तृतीयः शंखनादश्चतुर्थः पंचमस्तन्त्रीनादः षष्टस्तालनादः सप्तमो वेणुनादोऽष्टमो भेरीनादो नवमोमृदंगनादो दशमो मेघनादः"

(हंसोप० श्रु० ३ में देखो)

ये दश प्रकारके नाद सुने जाते हैं इनको सुनते-सुनते जब इन दशों प्रकारके नादोंकी समाप्ति होजाती है तब केवल ॐकार प्रणव सुना जाता है। जिसको सुनते-सुनते योगी परब्रह्ममें लीन होजाता है।

इसीके विषय भगवान् यों कहते हैं, कि जिज्ञासु इस नादरूपमें शब्दब्रह्मको अतिक्रमण करके निर्जीव समाधिकी सीढी पर चढ जावे। इसी अवस्थाको शब्दब्रह्मका अतिक्रमण करना कहते हैं।

इस श्लोकमें शब्दब्रह्मसे दोनों अर्थ लेने योग्य हैं— वेदका कर्मकाण्डभाग और योगके साधनका चौथा अंग अनाहतध्वनि। जिज्ञासु इन दोनों को अतिक्रमणकर अगली भूमिकातक बढ जावे। भगवान्का यही अभिप्राय है ॥ ४४ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! यह योगभ्रष्ट एक भूमिकाको समाप्तकर दूसरे जन्ममें दूसरी योगभूमिकाको प्राप्त करताहुआ चलाही जावेगा अथवा कहीं जाकर उसकी परमगतिका ठिकाना भी लगेगा?

+ १. चिणि, २. चिंचिणि; ३. घंटा, ४. शंख, ५. तन्त्री, ६. ताल, ७. वंशी, ८. भेरी, ९. मृदंग, और १०. मेघ ये ही दश प्रकारके नाद हैं जो कानोंके बन्द करनेसे अपने शरीरमें अनुभव होते हैं।

इतना सुन भगवान् बोले !

मू०— प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५

पदच्छेदः— योगी (श्रीमत्कुलजन्मा योगिकुलजन्मा वा योगभ्रष्टः) प्रयत्नात् (प्रकृष्टात्हठाद्वायुनिरोधादिरूपात् खेचर्यादिमुद्राऽभ्यासाद्वा) तु, यतमानः (प्रयत्नातिरेकं कुर्वन्) संशुद्धकिल्विषः (धौतं ज्ञानप्रतिबन्धकं पूर्वजन्मोपचितयोगसंस्कारेण पापं यस्य सः) अनेकजन्मसंसिद्धः (अनेकेषु जन्मसु किंचित्किंचित् जातं यत् संस्कारजातं तेन संसिद्धः । अनेकैर्जन्मभिः संस्कारातिरेकेण प्राप्तचरमजन्मा) ततः (साधनपरिपाकात्) पराम्, गतिम् (मुक्तिम्) याति (प्राप्नोति) ॥ ४५ ॥

पदार्थः— (योगी) श्रीमान् अथवा योगीके कुलमें जन्म-लेनेवाला पूर्वजन्मका योगभ्रष्ट (प्रयत्नात्) बडे उपायोंसे (तु) निश्चयकर (यतमानः) यत्नको करनेवाला (संशुद्धकिल्विषः) सर्वप्रकारके पाप, पुण्य तथा सुख दुःखादिसे शुद्ध हुआ (अनेकजन्म-संसिद्धः) अनेक जन्मोंमें थोडा-थोडा योगाभ्यासकर सिद्धिको प्राप्त होताहुआ (ततः) तिन साधनोंके परिपक्व होजानेपर (परां गतिम्) परमगति अर्थात् मुक्तिको (याति) प्राप्त करता है ॥ ४५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो पूछा था, कि योगभ्रष्ट बार-बार जन्म लेकर योगभूमिकाओंको साधन करता ही चलाजावेगा अथवा कहीं

उसका ठिकाना भी लगेगा ? तिस प्रश्नका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः] जो योगी नाना प्रकारके उपायों द्वारा यत्न करताहुआ सर्वप्रकारके उपद्रवोंसे शुद्ध होचुका है अर्थात् यम नियमके जो अंग हैं उनको बडी सावधानतासे पालन करताहुआ चलाआया है वही परमगतिका प्राप्त करनेवाला है ।

अब पाठकोंके कल्याणार्थ उन यत्नोंका वर्णन करदियाजाता है जिन्हें योगीजन अनेक जन्मोंमें थोडा-थोडा साधन करते चलेआते हैं—

अंग—१. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय (चोरी नहीं करनी) ४. ब्रह्मचर्य्य (उपस्थ इन्द्रियको वशमें रखना, स्त्रियोंके रूप देखनेमें चित्त न लगाना, स्त्रियोंसे वर्त्तालाप हंसी ठट्ठेकी बातें न करनी) ५. अपरिग्रह (जो निन्दित धन, सम्पत्ति इत्यादि विषय हैं उनको अंगीकार न करना) ६. शौच (पवित्र रहना) ७. सन्तोष (आवश्यकतासे अधिक अन्न, वस्त्र, इत्यादिके संग्रहके पीछे न पचमरना) ८. तप (भूख, प्यास, शीतोष्ण इत्यादि सहना, कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत करना । जो प्राप्त हो उसीमें आनन्दित रहना तथा अन्य प्रकारके पवित्र आचरणोंका करना, सर्वसुख परित्यगकर एकान्तस्थानमें घर्म्म, वात इत्यादिके कठिन दुःखोंको सहन करतेहुए भी मन और इन्द्रियोंको एकाग्रकर भगवत्प्राप्तिके विचारमें रत रहना) ९. स्वाध्याय (अपनी शाखाके अनुसार वेदादि अध्ययनकर गायत्री वा केवल प्रणवका जप करते रहना) १०. ईश्वरप्रणिधान (अपने सब

कर्मोंको, प्राण तथा आत्माको ईश्वरमें लगादेना) ११. आसन (सिद्धासन वा पद्मासन लगा स्थिरतासे सुखपूर्वक बैठना) १२. प्राणायाम (पूरक, कुम्भक, रेचक द्वारा श्वासका चढाना रोकना और उतारना) १३. प्रत्याहार (विषयोंसे चित्तके रुकनेमें जब इन्द्रियां भी उस चित्तके साथ-साथ रुकजाती हैं उसे **प्रत्याहार** कहते हैं तिस प्रत्याहारका अभ्यास करना) १४. धारणा (किसी एकस्थानमें वा किसी एक साकार-मूर्त्तिमें चित्तको लगादेना) १५. ध्यान (जिसमें धारणा कीगई है उसमें चित्तका डूबजाना अर्थात् उसे छोड अपनी मनोवृत्तिको अन्य किसी स्थानमें न जानेदेना) १६. समाधि (जिसका ध्यान करते हैं तिसके स्वरूपमें वृत्तियोंका लय होजाना अर्थात् ध्यान, ध्याता और ध्येयका एक होजाना) इतने अंगोंका जो साधन करता है उसीको आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्रने " **प्रयत्नात् यतमानः** " कहकर पुकारा है ।

यहां **प्रयत्नात्** शब्दका प्रयोग जो भगवानने **यत्नकरनेवालोंके** साथ किया है इसका यही तात्पर्य्य है, कि योगी अभ्यास करते-करते दृढभूमिको प्राप्त होजावे। सो केवल थोडे कालतक इन अंगोंके स्पर्श-मात्रसे हो नहीं सकता । इसलिये बहुत कालतक बडी दृढताके साथ इन अंगोंके अभ्यासकी आवश्यकता है । प्रमाण— " **स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य्यसात्क्षात्कारसेवितो दृढभूमिः** " (पतं० पा० १ सू० १४)

अर्थ— किसी अंगके अभ्यासको दीर्घकालतक निरन्तर सत्कार पूर्वक सेवनेसे दृढभूमिकी प्राप्ति होती है अर्थात् वह क्रिया हृदयमें

जमजाती है । इस प्रकार क्रियाके साधनेवाले चार प्रकारके होते हैं, जिनका वर्णन साधकोंके हितार्थ यहां करदिया जाता है ।

"चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुर्मध्याधिमात्रकः। अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवाब्धौ लंघने क्षमः ॥" शिव भगवान् कहते हैं, कि साधकों में चार प्रकारके साधक होते हैं— १. मृदु, २. मध्य, ३. अधिमात्रक और ४. अधिमात्रतम । इनमें अधिमात्रतम सबोंसे श्रेष्ठ है जो संसार-सागरके लांघजानेमें समर्थ होजाता है । अब इन चारोंके लक्षण दिखलाये जाते हैं —

१. मृदुअधिकारी-- "चपलः कातरो रोगी पराधीनोऽतिनिष्ठुरः । मन्दाचारी मन्दवीर्यो ज्ञातव्यो मृदुना नरः ॥ द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धिरेतस्य यत्नतः परम् । मंत्रयोगाधिकारी स ज्ञातव्यो गुरुणा ध्रुवम्"

अर्थ— जो साधक साधनोंमें पूर्ण उत्साह नहीं रखता है, मूढ है, रोगोंसे ग्रसाहुआ है, गुरुमें दोष निकालनेवाला है, लोभी है, पापमति है बहुत खानेवाला और स्त्रीके अधीन रहनेवाला है, चंचल है, कादर है, रोगी है, पराधीन है, अत्यन्त निठुर है, मन्द आचरण करनेवाला है और मन्द वीर्य है । ऐसेको मृदुअधिकारी कहते हैं । ऐसेकी सिद्धि १२ वर्षमें बडी कठिनतासे होती है । गुरुको चाहिये, कि ऐसेको आरम्भ कालमें केवल मंत्रयोगका अधिकारी समझे । मंत्रयोगसे उसके प्रत्यवाय भी दूर होते रहेंगे और साधनमें भी कुछ कठिनता न होगी ।

२. मध्य अधिकारी— "समबुद्धिः क्षमायुक्तः पुण्याकांक्षी प्रियम्वदः। मध्यस्थः सर्वकार्येषु सामान्यः स्यान्न संशयः॥ एतं ज्ञात्वैव गुरुभिर्दीयते युक्तितो लयः"॥

अर्थ— जो साधक समबुद्धिवाला है अर्थात् सबके दुःख सुख को अपने आत्माके तुल्य जाननेवाला है, क्षमाशील है, सदा पुण्य-कर्मकी अभिलाषा करनेवाला है और सर्व कार्योंमें सामान्य है। वह मध्यस्थ अर्थात् मध्यसाधक कहा जाता है। गुरुको चाहिये, कि ऐसे साधकको पहचानकर लययोगका उपदेश करे।

३. अधिमात्रक अधिकारी— "स्थिरबुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि। महाशयो दयायुक्तः क्षमावान्वीर्यवानपि॥ शूरो लये च श्रद्धावान गुरुपादाब्जपूजकः। योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातश्चैवाऽधिमात्रकः॥ एतस्य सिद्धिः षड्वर्षैर्भवेदभ्यासयोगतः। एतस्मै दीयते धीरैर्हठयोगस्य साधनम् ॥

अर्थ— जिसकी बुद्धि स्थिर हो, लय-योगमें लगी हो, स्वाधीन हो, जिसका अपना समय अपने हाथमें रहे, वीर्यवान् हो, अर्थात् जिसका वीर्य पुष्ट हो, पराक्रमी हो, महाशय हो, दयायुक्त हो, क्षमाशील और वीर हो, ईश्वरमें लय होनेकी जिसमें श्रद्धा बनी हो, गुरुचरणोंका पूजनेवाला हो तथा योगाभ्यासमें रत हो तो ऐसेको अधिमात्रक-साधक जानना चाहिये। ऐसे साधकके योगकी सिद्धि ६ वर्षोंमें होती है। इसलिये ऐसेको हठयोगका साधन देना चाहिये।

४. अधिमात्रतम अधिकारी—

" महावीर्यान्वितोत्साही मनोज्ञः शौर्यवानपि ।
शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च निर्ममश्च निराकुलः ॥
नवयौवनसम्पन्नो मिताहारी जितेन्द्रियः ।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वजनाश्रयः ॥
अधिकारी स्थिरो धीमान् यथेच्छावस्थितः क्षमा ।
सुशीलो धर्मचारी च गुप्तचेष्टः प्रियम्वदः ॥
शास्त्रविश्वाससम्पन्नो देवतागुरुपूजकः ॥
जनसंगविरक्तश्च महाव्याधिविवर्जितः ।
अधिमात्रतयोगश्च सर्वयोगस्य साधकः ॥
त्रिभिः सम्वत्सरैः सिद्धिरेतस्य स्यान्न संशयः ।
सर्वयोगाधिकारी च नात्र कार्या विचारणा ॥ "

अर्थ— महा पराक्रमी हो, उत्साह युक्त हो, मनोज्ञ अर्थात् सबके मनको प्रिय लगे, वीर हो, शास्त्रोंका अभ्यास करनेवाला हो, ममता रहित हो, निराकुल अर्थात् सर्व गुणोंसे पूर्ण हो, नया युवा हो, मिताहारी हो, जितेन्द्रिय हो, निर्भय हो, पवित्रात्मा हो, दक्ष (ज्ञानी) हो, दाता हो सबलोग जिसका आश्रय लें, योगका अधिकारी हो, स्थिरचित्त हो, बुद्धिमान हो, अपने कार्यमें यथेष्ट दृढ हो, धैर्यवान् तथा क्षमा करनेवाला हो, सुशील हो, धार्मिक आचरण वाला हो, गुप्तरूपसे साधन करनेवाला हो, अपना भेद किसीपर प्रकट न करनेवाला हो, प्रियवादी हो, शास्त्रोंमें पूर्ण विश्वास रखता हो, देवता

और गुरुकी पूजा करनेवाला हो, अधिक मनुष्योंका संग नहीं करने वाला हो, अर्थात् एकाकी रहनेवाला (एकान्तवासी) हो, महा रोगोंसे वर्जित हो, अणिमा सिद्धिके प्राप्त करने योग्य हो तथा जो सर्व प्रकार योगोंका साधन करनेवाला हो तो ऐसे साधकके योगकी सिद्धि तीन सालमें होजाती है इसमें संशय नहीं करना चाहिये। ऐसा पुरुष सर्व प्रकारके योगोंका अधिकारी है। गुरुको चाहिये, कि ऐसेको योग प्रदान करनेमें किसी प्रकारका विचार न करे।

शिव संहिता नाम ग्रन्थमें शिव भगवानने इस विषयको कथन किया है।

आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द अर्जुनके प्रति इसी विषयको यों कह-रहे हैं, कि प्रयत्न पूर्वक अर्थात् पूर्ण परिश्रम करके जो जहां जिस प्रकार का अधिकारी है अपने-अपने योगमें यत्न-पूर्वक स्थिर रहे। एवम्प्रकार यत्न करनेवाला अपने साधनके प्रभावसे संशुद्धकिल्विष होजाता है अर्थात् उसके शरीरमें जितने प्रकारके किल्विष रहते हैं सब ऐसे धुल जाते हैं जैसे वर्षासे धुलकर निर्मल और विमल आकाश।

अब श्री आनन्दकन्द कहते हैं, कि एवम् प्रकार निर्म्मल और निर्विकार होकर [**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्**] अनेक जन्मोमें योगका साधन करते-करते अर्थात् एक-एक जन्ममें योगकी अगली भूमिकाको धीरे-धीरे साधन करते-करते जब सिद्ध होता है तब अन्तिम जन्ममें " ततः " उन साधनोंके परिपक्व होजानेसे वह प्राणी परा गति जो मुक्ति उसे लाभ करता है तथा भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति कर-

लेता है । अथवा उन चरणोंकी सेवामें लगजाता है जहांसे फिर लौट-कर असार-संसारमें जन्म नहीं लेनापडता । श्रु०— "यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः । स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते" (कठो० अ० १ वल्ली ३ श्रु० ८)

अर्थ— जो प्राणी अनेक जन्मोंमें प्रयत्न करते—करते जिस जन्ममें विज्ञानवान् होजाता है और मनोयोग देकर एकाग्र होजाता है तथा (सदा शुचिः) अर्थात् सदाके लिये पवित्र होजाता है सो प्राणी निश्चयकरके (तत्पदमाप्नोति) उस परमपदको लाभ करता है जहांसे फिर लौटकर जन्म नहीं पाता । क्योंकि अनेक जन्मोंकी सिद्धियोंके बलसे वह परमगति पाजाता है अर्थात भगवत्की प्राप्ति करलेता है ॥ ४५ ॥

अब भगवान ऐसे अनेक जन्मोंके प्रयत्न द्वारा परमगतिको प्राप्त करनेवाले योगीकी स्तुति अगले दो श्लोकोंमें करते हुए तथा अर्जुनको

टिप्पणी— बडे शोककी वार्ता है, कि वर्तमान कालमें बहुतसे आलसी मन्दो-त्साही विषय-सुखमें अपना समय विताते हुए अपनेको ज्ञानी समझते हैं और कह उठते हैं, कि कर्म करना निरर्थक है । कर्मकाण्डसे कुछ भी लाभ नहीं होसकता । मैं ज्ञानी हूं, सर्वत्र सब ठौर पाप-पुण्यमें ब्रह्मको व्यापक जानकर समान रूपसे देखता हूं पर यदि उनके हृदयको यथार्थ-रूपसे टटोला जाय तो उनके हृदयमें कहीं भी ज्ञानका लेश नहीं पायाजाता ऐसेको 'वाचक-ज्ञानीके' नामसे पुकारते हैं । यह सिद्धान्त है, कि ज्ञानकी बातें करनेसे कोई ज्ञानी नहीं होसकता । 'निशि गृहमध्य दीपकी बातनि तम निवृत्त नहिं होई' (तुलसी) अर्थात् रातको अंधेरे घरमें रात्रिभर दीप-दीप चिल्लाते रहनेसे उजि-याली नहीं होसकती ।

युद्धमें तत्पर रहते हुए भी योगी ही बने रहनेकी आज्ञा देते हुए इस कर्म-विषयके वर्णन करने वाले कर्मकाण्डाख्य प्रथमखण्डको समास करते हैं—

मू०—तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन!
॥ ४६ ॥

पदच्छेदः— योगी (ध्यानयोगी। अष्टांगयोगी वा) तपस्विभ्यः (कृच्छ्रचान्द्रायणमासोपवासादिदुःसहव्रतपरायणेभ्यः) अधिकः (श्रेष्ठः) अपि, ज्ञानिभ्यः (शास्त्रीयपरोक्षज्ञानवद्भ्यः) अधिकः (श्रेष्ठः) च (तथा) कर्मिभ्यः (अग्निहोत्रादि कर्मवद्भ्यः) अधिकः (श्रेष्ठतमः) [इति मम] मतः (अभिमतः) तस्मात् (अस्मात् कारणात्) [हे] अर्जुन ! [त्वमपि] योगी (योगानुष्ठायी) भव ॥ ४६ ॥

पदार्थः— (योगी) ध्यानयोगी अथवा अष्टांगयोगी (तपस्विभ्यः) तपस्वियोंसे (अधिकः) उत्कृष्ट होता है फिर (ज्ञानिभ्यः) ज्ञानियोंसे (अपि) भी (अधिकः) श्रेष्ठ होता है (च) तथा (कर्मिभ्यः) कर्म करनेवालोंसे भी (अधिकः) अत्यन्त श्रेष्ठ होता है ऐसी मेरी (मतः) सम्मति है अर्थात् ऐसा ही मैं मानता हूं (तस्मात्) इसी कारण (अर्जुन !) हे अर्जुन ! तू भी (योगी) योगहीका अनुष्ठान करनेवाला (भव) होजा ॥ ४६ ॥

भावार्थः—अब भगवान् इस अध्यायमें पूर्ण प्रकार ध्यानयोगका वर्णन कर तिसके साधन करनेवालोंकी उत्कृष्टता दिखलाते हुए कहते हैं, कि [तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः] वनमें जाकर सहस्रों वर्षोंकी तपस्या करनेवाले तपस्वियोंसे और ज्ञानियोंसे भी ध्यानयोग साधन करनेवाला योगी श्रेष्ठ होता है। अर्थात् जिसने अनेक जन्मोंमें परिश्रम कर निष्कामकर्मोंके साधन और गुरुचरणसेवा द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करली है, गुरुचरण सेवा द्वारा अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध करलिया है, सुख दुःखमें समबुद्धि किये हुए निस्त्रैगुण्य होरहा है, निर्द्वन्द है, आत्मवान् है, निःसंग है, स्थितप्रज्ञ है, निस्पृह है, निर्मम है, निरहंकार है, आत्मरत है, आत्मतृप्त है, आत्मसन्तुष्ट है, निराशी है, यतचित्तात्मा है, त्यक्तसर्वपरिग्रह है, तत्त्वदर्शी है, नैष्ठिकी शान्ति युक्त है, मोक्षपरायण है, एकाकी है, विगतभी है, मत्परायण है, नियतमानस है, अनिर्विण्णचेतस है, धृतिगृहीत बुद्धि है, आत्मभूत है, ब्रह्मभूत है, विगतकल्मष है, समदर्शी है, अभ्यास और वैराग्य साधन किये हुए ब्रह्मलोकसे पाताललोकतकके विषयोंको कूकरके उवान्तके तुल्य जानने वाला है और ब्रह्मसंस्पर्शसुखको प्राप्त करता हुआ जो भगवत्स्वरूपमें मग्न है, वही यथार्थ योगी है। इस श्लोकमें योगी शब्द कहनेसे इसी प्रकारके योगीका तात्पर्य्य है जो उपर्य्युक्त सब गुणोंसे सम्पन्न हो। अर्थात् यमनियमादिसे आरंभकर समाधितक पहुंचा हुआ हो।

भगवान् कहते हैं, कि ऐसा योगी उन तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है जो तपकरके इन्द्रलोकादि सुखोंकी कामना, अणिमादि अष्ट सिद्धियोंकी आकांक्षा, राज्य सुखकी अभिलाषा तथा किसी शत्रुके नाशकी उत्कण्ठा वनोंमें जा, सूखी पत्ति खा घोर तप करते हैं अथवा कृच्छ्र-चान्द्रायण, मासोपवासादि व्रतोंका सम्पादन करते हैं।

शंका— तैतिरीयोपनिषद्के तीसरे अध्यायमें लिखा है, कि जिस समय भृगुने अपने पिता वरुणकी शरण जाकर ब्रह्मके विषय जिज्ञासा की है और कहा है, कि " अधीहि भगवो ब्रह्मेति " हे भगवन् ! मुझे ब्रह्मका बोधकराओ, कि ब्रह्म क्या है ? तब वरुणने उत्तर दिया है, कि " तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व ! तपो ब्रह्मेति " (तैत्तिरी० अ० ६ श्रु० ३६, ४०)

अर्थ— हे बेटा ! तू तप करके उस ब्रह्मको ढूंढ ! तप ही ब्रह्म है। यह श्रुति तपकी प्रशंसा करती है और तपको ब्रह्मस्वरूप कहती है। पर इस श्लोकमें भगवान अपने मुखारविन्दसे तपकी न्यूनता और योगकी श्रेष्ठता दिखला रहे हैं ऐसा क्यों ?

समाधान— श्रुतिने जो " तपो ब्रह्मेति " कहा तहां तपका अर्थ विचार है सूखी पत्ती खाना अर्थ नहीं है सुनो ! मैं तुमको श्रुतिहीके प्रमाणसे " तप " शब्दका अर्थ सुनाता हूं। श्रु०— " मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं परमं तपः " अर्थात् मनके साथ इन्द्रियोंकी जो एकाग्रता है उसीका नाम तप है। तात्पर्य्य यह है, कि मनके साथ जब इन्द्रियां मिलकर किसी एक तत्वके पूर्ण विचारमें लगजाती हैं और

उस विचारसे उस तत्त्वका पूर्ण बोध होजाता है तब उसे तप कहते हैं। इसी विचारमें संभव है, कि शरीरकी सुधि न रहे भूख प्यास भूल जावे। सो तो योगके अन्तर्गत ही है और उसीको 'विचारणा' नामकी भूमिका भी कहते हैं, जिसे योगी पूर्व कई जन्मोंमें योगद्वारा कर चुकता है। श्रुतिने जो तप कहा उस विचाररूप तपसे और इस भगवानके कहे "तप" का बहुत अन्तर है। शंका मतकरो सुनो!

आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द जिस तपसे योगको श्रेष्ठ बतला रहे हैं उस तपके तीन भेद हैं— शारीरिक, वाचिक, और मानसिक। फिर इन तीनोंके भी तीन भेद हैं। सात्त्विक, राजस, और तामस इनमें सात्त्विक तपको तो योगी अपने पिछले ही जन्ममें अभ्यास करलेता है अर्थात् नियमपूर्वक शरीर, वचन और मनको अपने अधीन रखकर इन तीनोंको दमन कर लेता है। इसलिये यह सात्त्विक तप तो योगके अन्तर्गत ही है। अष्टांगयोगका अंग ही है। पर राजस और तामस जो दो प्रकारके तप हैं वे योगसे अत्यन्त न्यून हैं। क्योंकि वे दोनों तप सत्कार, मान और संसारमें पूजनीय होनेके लिये किये

टिप्पणी— इन तीनोंके विषय श्री कृष्णचन्द आनन्दकन्दने इस गीताके अध्या० १७ में श्लोक १४ से १६ तक विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। इन ही तीनोंको दमन करनेवाले अर्थात् दण्ड देनेवालोंको सच्चा त्रिदण्डी कहते हैं। वर्षा, आतप और वातके दुःखोंका सहन करना राजसतप है और अज्ञानता पूर्वक अपने आत्माको नाना प्रकारकी की पीड़ा देकर तप करना अथवा पराएके नाश निमित्त तप करना तामसतप कहा जाता है।

जाते हैं । अथवा शत्रु इत्यादिके नाश करनेके लिये किये जाते हैं । इन दोनों प्रकारके तपोंके समीप तो बुद्धिमान योगी कभी जाता ही नहीं ।

भगवान्ने जिन तपस्वियोंसे योगीको अधिक कहा है वे ये ही दो प्रकारके राजस और तामस तप करने वाले तपस्वी समझे जाते हैं । शंका मतकरो !

तपस्वियोंसे योगीको श्रेष्ठ कहकर अब भगवान् कहते हैं; कि "ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः" ज्ञानियोंसे भी योगियोंको मैं अधिक मानता हूं अर्थात् जो परिश्रम करके बहुत दिनों तक साधनचतुष्टयका साधन करते हुए श्रवण, मनन, निदिध्यासनादिके अभ्याससे ज्ञान प्राप्तकर ज्ञानी कहलाते हैं उनसे भी योगी श्रेष्ठ है ।

शंका— पहले तो भगवान् निज मुखारविन्दसे कह आये हैं; कि "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" (अ० ४ श्लो० ३८) अर्थात् ज्ञानके समान इस संसारमें अन्य कुछ भी पवित्र नहीं है और अब कहते हैं; कि ज्ञानीसे भी योगी श्रेष्ठ है । इन दोनों वचनोंमें पूर्वापर विरोध देखाजाता है जो एक प्रकारका प्रमाद है। भगवान्के वचनोंमें ऐसा क्यों ?

टिप्पणी— योगके दूसरे अंग नियमके भेदमें तपको रखा है । प्रमाण— "शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" (पतं० पाद २ सूत्र ३२) अर्थात् योगके आठ अंगोंमें जो दूसरा अंग "नियम" है तिस नियमके जो शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान पांच भेद हैं उनमें तीसरा तप है । इसलिये यह तप योगका अंग ही है ।

समाधान— साक्षात सर्वेश्वर सर्वज्ञके वचनोंमें पूर्वापर विरोधका प्रमाद कदापि नहीं होसकता । मुख्य तात्पर्य भगवान्के कहनेका यह है, कि ज्ञानकी दो अवस्थाएँ हैं— परोक्ष और अपरोक्ष । इनमें वेद-शास्त्रादिके अध्ययन करनेसे तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि के अभ्याससे जो ज्ञानकी उत्पत्ति होती है वह परोक्षज्ञान कहलाता है अर्थात् केवल विद्या पढकर आत्मतत्त्वके विषय जो एक प्रकारका बोध होजाता है तथा सृष्टि, कर्म, प्रकृति, पुरुष, हिरण्यगर्भ, विराट् इत्यादि सब मुख्य-मुख्य पदार्थोंका जो सामान्य ज्ञानमात्र होजाता है इसीको अपराविद्या कहते हैं। इसके द्वारा ब्रह्माण्डका परोक्षज्ञान होता है। क्योंकि केवल वेदादिके अध्ययन करनेसे यदि संसार-शोकसागरसे प्राणी तरजाता, तो सनत्कुमारके प्रति नारद ऐसा नहीं कहते, कि मैं अपराविद्या अर्थात् वेद, वेदांग, उपवेद, इतिहास, पुराण, षट्शास्त्र, श्राद्धकल्प, गणितशास्त्र, दैवीउत्पातशास्त्र, निधिशास्त्र, तर्क-शास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, गारुडीविद्या, गन्धर्व-विद्या, शिल्पविद्या

टिप्पणी— अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्र पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दशः । आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः । अर्थशास्त्रं चतुर्थं च विद्या ह्यष्टादशैव तु ।

विद्याकी चौंसठ कलाएँ— १. गीतम् । २. वाद्यम्। ३. नृत्यम्। ४.नाट्यम। ५. आलेख्यम् । ६. विशेषकच्छेद्यम् । ७, तण्डुलकुसुमावलिविकाराः । ८. पुष्पास्तरणम । ९. दशनवसनांगरागाः । १०. मणिभूमिकाकर्म । ११. शयनरचनम । १२. उदकवाद्यम्। १३. उदकघातः । १४. चित्रयोगाः । १५. माल्यग्रन्थनविकल्पाः ।

तथा विद्याकी जो ६४ कलाऐं हैं उन सबमें परिपूर्ण हूं पर शोक-सागरसे मैं तर नहीं सकता । प्रमाण श्रु०— **सोऽहं भगवो मंत्र विदेवास्मि नात्मविन् श्रुतंध्येव मे भगवद्दशेभ्यस्तरति शोकमात्म-विदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारय-त्विति" (छां० प्र० ७ खं०१ श्रु० ३)**

अर्थ—नारद सनत्कुमारसे विनयपूर्वक कहते हैं, कि हे भगवन्! मैंने सर्व विद्याओंको अध्ययन कर लिया है पर हे भगवन! मैं केवल

---

१६. केशशेखरापीडयोजनम् । १७ नेपथ्ययोगाः । १८. कर्णपत्रभंगा । १६. गन्धयुक्तिः । २०. भूषणयोजनम् । २१. इन्द्रजालम् । २२. कौचुमारयोगाः । २३. हस्तलाघवम् । २४. चित्रशाकापूपभक्ष्यविकारक्रियाः । २५. पानकरसरागासवयोजनम् । २६. सूचीकर्म । २७. सूत्रकर्म । २८. प्रहेलिका । २६. प्रतिमाला । ३०. दुर्वाचकयोगाः । ३१. पुस्तकवाचनम् । ३२ नाटिकाख्यायिकादर्शनम । ३३. काव्यसमस्यापूर्त्तिः । ३४. पट्टिकावेत्रवाणविकल्पाः । ३५. तर्ककर्म । ३६. तक्षणम् । ३७. वास्तुविद्या । ३८. रूप्यरत्नपरीक्षा । ३६. धातुवादः । ४०. मणिरागज्ञानं । ४१. आकरज्ञानं । ४२. वृक्षायुर्वेदयोगः । ४३, मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः । ४४. शुकसारिका प्रलापनम् । ४५. उत्सादनं । ४६. केशमार्जनकौशलम् । ४७, अक्षरमुष्टिका कथनं । ४८. म्लेच्छितकलाविकल्पाः । ४६. देशभाषाज्ञानम् । ५०. पुष्पशकटिकानिमित्तज्ञानं । ५१. यन्त्रमातृका । ५२. धारणमातृका । ५३. सम्पाठ्यम् । ५४. मानसीकाव्यक्रिया । ५५. क्रियाविकल्पाः । ५६. छलितकयोगः । ५७. अभिधानकोषछन्दोज्ञानम् । ५८. वस्त्रगोपनम् । ५६. द्यूतविशेषः । ६० आकर्षक्रीडा । ६१. बालक्रीडाकर्म । ६२. वैनायिकीनां विद्यानां ज्ञानम् । ६३. वैजायिकीनां विद्यानां ज्ञानं । ६४. वैतालिकीनां विद्यानां ज्ञानम् ॥

वेदादिके मन्त्रोंका वेत्ता हूं आत्मवेत्ता नहीं हूं। भगवन्! मैंने आपके सदृश आत्मवेत्ताओंसे ऐसा श्रवण किया है, कि आत्माको जाननेवाला शोकसे तर जाता है। सो हे भगवन्! मैं शोकातुर होरहा हूं मुझको आप इस शोकसे पार कीजिये।

इस श्रुतिसे ही ऐसा बोध होता है, कि वेदशास्त्रमात्र पढनेवाले ज्ञानी तो हैं पर परोक्षज्ञानी कहेजाते हैं। क्योंकि वे मन्त्रमात्रसे केवल ज्ञानका अनुभव करते हैं इसलिये परोक्षज्ञानमात्र होता है। अपरोक्ष अर्थात् आत्माका प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे किसी मृत्यलोक निवासीने सुना, कि इन्द्र और वरुणमें युद्ध होरहा है। वरुणकी पराजय होगई है। और इन्द्रने जय पाई है। अब विचारने योग्य है, कि सुननेवालेने न इन्द्रको देखा और न वरुणको। न उनके शस्त्र देखे, कि कैसे होते हैं? न उनकी युद्धकला देखी, कि कैसे लडते हैं? इसलिये केवल सुनने-मात्र जानते हैं। अपने युद्धके समान उनके युद्धका भी अनुमान कररहे हैं। ऐसे ज्ञानको परोक्ष ज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार अमृत कल्पवृक्ष, नन्दनवन इत्यादिके नाम और गुण पत्रोंमें पढने-वाले उक्त वस्तुओंका परोक्षज्ञान तो प्राप्त कर लेते हैं पर वास्तवमें वे नहीं जानते, कि इनका यथार्थ स्वरूप कैसा है? पर जिन देवता-ओंने इन पदार्थोंका प्रत्यक्ष करलिया है वे ही इनके यथार्थ स्वरूपके जानने वाले हैं।

जिस ब्रह्मचारीने बचपनसे वृद्धावस्थातक यथार्थ नैष्ठिक-ब्रह्मचारी रहकर स्त्रीसंगका सुख एकबारगी नहीं जाना है वह केवल सुनसुनाकर

कामसुखका परोक्षज्ञान रखता है पर यथार्थ कामसुखका बोध उसे नहीं है। इसीलिये कहना पडता है, कि केवल वेदशास्त्र अध्ययन कर शास्त्र–जनित–ज्ञान, सामान्य ज्ञान है। पर जिसने आत्म-ज्ञानका साक्षात्कार किया है अर्थात् जो आत्मज्ञानकी चौथी भूमिका तक पहुंचगया है वही यथार्थ ज्ञानी है। क्योंकि उसे अपरोक्षज्ञान प्राप्त है। जिस ज्ञानके विषय श्रुति कहती है, कि श्रु०– "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"।

आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्रने इस गीताके अध्याय १८ में श्लोक २० से २२ तक तीन प्रकारके ज्ञान बताये— १. सात्विक, २. राजस और ३. तामस इनमें सम्पूर्ण विश्वमात्रके भूतोंमें जो अभिन्न एक निर्विकार आत्मभाव देखपडता है वही सात्विकज्ञान है। और जिस ज्ञानसे इन भूतोंमें नाना प्रकारके भिन्न-भिन्न भाव देखपडते हैं वह **राजसज्ञान** है। फिर जो ज्ञान एक ही कार्य्यमें परिपूर्णतासे अनुरक्त है; विना प्रमाणके है तथा परमार्थका विरोधी है वह **तामसज्ञान** कहाजाता है।

अब जो यहां भगवान्ने कहा; कि ज्ञानीसे भी योगी अधिक है इसका तात्पर्य्य यही है, कि सामान्य प्रवृत्तिवाले ज्ञानीसे अर्थात् शास्त्र-जन्य साधारण घट, पटादिके ज्ञानसे तथा राजस और तामस-ज्ञानयुक्त ज्ञानियोंसे योगी श्रेष्ठ है। पर जो ब्रह्मका अपरोक्षज्ञान है तथा सात्विक-ज्ञान है वह तो योगके अन्तर्गत ही है वह योगका अंग ही है। योगशास्त्रके कर्त्ता महर्षि पतञ्जलि भी अपने योगसूत्रमें लिखते

हैं, कि " विवेकख्यातिरविप्लवाहानोपायः " (पतं० पाद २ सूत्र २६)

अर्थ— अविप्लवा अर्थात् मिथ्याज्ञानरहित जो (विवेक-ख्याति) यथार्थज्ञान है वही सर्व प्रकारके दुःखोंकी हानिका उपाय है। दृक् और दृश्य इनका जो भेद, उसे कहिये विवेक तिस विवेकका जो ज्ञान उसे कहिये ख्याति। तहां प्रत्येक प्राणीके अन्तःकरणमें विप्लवसहित साधारण सविकल्प ख्यातिका उदय होता है अर्थात् सब वस्तुओंका साधारण ज्ञान उदय होता है इसीको परोक्षज्ञान कहते हैं। जैसे शास्त्रोंको पढकर जो शास्त्रीके अन्तःकरणमें अमृत, चिन्तामणि, और कल्पतरु इत्यादिका ज्ञान हुआ है वह परोक्षज्ञान है और विप्लव सहित है। पर जिसने स्वर्गमें जाकर इन वस्तुओंको अपने नेत्रोंसे प्रत्यक्ष करलिया है उसका ज्ञान अपरोक्षज्ञान कहाजाता है, और वह विप्लवसहित नहीं है। इसी प्रकार जब प्राणीका मन दृसब विषयोंसे विरक्त होकर पुरुषाभिमुख अर्थात् भगवत्सम्मुख होनेका अभ्यास करता है तिस अभ्यास द्वारा जब ध्यानसे अन्तःकरण शुद्ध और निर्म्मल होता है तब उस शुद्ध अन्तःकरणमें (अपरोक्ष) साक्षात्काररूप आत्मज्ञानका उदय होता है। ऐसे ज्ञानको विप्लव रहित विवेकख्याति कहते हैं। विवेकख्याति अर्थात् आत्माका अपरोक्षज्ञान प्राणीको स्थिर करदेता है इसीको जीवन्मुक्त पुरुषोंका ज्ञान-वैभव भी कहते हैं। यही "हानोपायः" अर्थात् सर्वदुःखोंके नाश होजानेका उपाय है। अब महर्षि पतंजलि कहते हैं, कि " तस्य सप्तधा-

प्रान्तभूमिः प्रज्ञा " (पतं० पाद २ सू० ३७) इस विवेकख्याति वालेको सात प्रकारकी अन्तिम अवस्थावाला ज्ञान होता है ।

१. शान्ति— जो कुछ जानना था सब जानकर कृतकृत्य होजाना अर्थात् सर्वप्रकारकी जिज्ञासाओंकी निवृत्ति होजानी ।

२. सब प्रकारके बन्धनोंके कारण राग-द्वेषादिको त्याग देना ।

३. कैवल्यपरमपदके लाभनिमित्त जिन तत्वोंकी प्राप्तिकी आवश्यकता रहती है उन सबोंका प्राप्त होजाना अर्थात् सम्प्रज्ञातसमाधिसे उन्नति करते-करते असम्प्रज्ञातसमाधितक पहुँचजाना ।

४. विवेकख्यातिकी प्राप्ति-निमित्त किसी प्रकारके कर्तव्यका शेष न रहजाना अर्थात् होने न होनेके उपायोंको दृढ करलेना । इन चारों अवस्थाओंको कार्यविमुक्तिअवस्था कहते हैं ।

५. भोगोंसे उदासीन होकर ऐसा दृढ निश्चय करलेना, कि मेरी बुद्धि कृतार्थ होगयी है ।

६. बुद्धिका अपने आत्यन्तिक-स्थानको पाजाना । जैसे किसी पर्वतके शिखरसे पत्थरेका एक खण्ड टूटकर चलता है तो वह बीचमें कहीं भी न अटक कर एकबारगी पर्वतके मूलमें जा पहुंचता है । इसी प्रकार बुद्धिका प्रकृतिसे चलकर अपने मूल-कारणमें लय होजाना । अथवा भूने चनेके समान चित्तसे अविद्याका इस प्रकार भस्म होजाना, कि फिर कभी उसका अंकुर हृदयमें न उपजने पावे ।

७. गुणातीतस्वरूपमात्रमें स्थिर होजाना अर्थात् अपने मूलमें स्थिर होकर रहजाना । ये तीनों " चित्तविमुक्तिकी " अवस्थायें कही जाती हैं । ये ही सातों विवेकख्यातिकी सात प्रान्त-भूमि अर्थात् अन्तिम अवस्थायें कहीजाती हैं ।

श्री वसिष्ठजीने भी योगवासिष्ठ-ग्रन्थमें ज्ञानकी सात भूमिकाएँ कथन की हैं । इन सातोंका वर्णन इस गीताके अ० ३ श्लो० १८ में देखो ।

मुख्य तात्पर्य्य भगवान्के कहनेका यह है, कि परोक्षज्ञानवाले ज्ञानियोंसे योगी श्रेष्ठ है पर अपरोक्ष-ज्ञान तो योगीका परम धन ही है वरु योगका फल ही है। इसका कहना ही क्या है ?

अब उक्त प्रकारके तपस्वियों और ज्ञानियोंसे योगीको श्रेष्ठ कहकर कर्मियोंसे भी श्रेष्ठ बतलातेहुए भगवान् अर्जुनको योगमें श्रद्धा उत्पन्न करानेके तात्पर्य्यसे कहते हैं, कि [**कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवाऽर्जुन !**] कर्म करनेवाले कर्मकाण्डियोंसे भी योगी अधिक है इस कारण हे अर्जुन ! तू भी योगी होजा ।

तहां कर्म करनेवाले दो प्रकारके हैं प्रथम (सकाम) फलकी प्राप्तिकी अभिलाषासे कर्म करनेवाला । दूसरा (निष्काम) फलकी अभिलाषासे रहित होकर कर्म करनेवाला । इनमें प्रथम सकामवाला तो अत्यन्त ही नीच है क्योंकि श्रुतिके वचनानुसार वह दुःखका भागी होता है। श्रु०— " दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढाः । अन्धेनैव नियमाना यथाऽन्धाः ।"

अर्थ— सकाम-कर्मोंके करनेवाले कर्मके फलकी इच्छा करके दन्द्रस्यमाण होकर अर्थात् नाना प्रकारके कुटिल-मार्गोंमें पडकर दुःखके झोकोंसे ऐसे व्याकुल होते हैं जैसे वे अन्धे जिनका मार्ग दिखानेवाला भी अन्धा ही हो । क्योंकि अन्धा मार्गदिखानेवाला आप भी गढेमें गिरेगा और पीछे चलनेवालोंको भी गढेमें डालदेवेगा ।

तात्पर्य्य यह है, कि सकाम-कर्मोंके करनेवाले यजमान और कराने वाले उनके आचार्य्य दोनों गडहेमें गिरते हैं और कुम्भीपाकादिमें ऊब डूब करते हैं । ऐसे कर्मियोंसे तो योगी श्रेष्ठ है ही पर जो लोग निष्काम-कर्मके सम्पादन करनेवाले हैं उनसे भी योगी श्रेष्ठ है। क्योंकि निष्काम-कर्मसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होती है सो योगकी भूमिकाओंमें सबसे पहली भूमिका है। अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त न होनेसे आगे योगकी किसी भूमिकाका कोई भी अधिकारी नहीं होसकता । जो योगी अनेक जन्मोंमें परिश्रमकर सिद्धिको प्राप्त होता है वह मानो भगवत्स्वरूपको प्राप्त होचुका | क्योंकि जबतक भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति न हो तबतक योगकी सिद्धि नहीं समझीजाती है । इसलिये सिद्ध-योगी अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करनेवालोंसे निस्सन्देह श्रेष्ठ है। जैसे किसी एक कृषिकारने नाज बोनेकेलिये अपने क्षेत्रको हलोंसे जोंतकर जितने निरर्थक और दूषित घास पात थे सबोंको बाहर निकालकर फेंकदिया । अब उसका क्षेत्र स्वच्छ पड़ाहुआ है जिसमें वह बीज बोवेगा । दूसरे कृषिकारने अपने स्वच्छ क्षेत्रमें बीज बोदिया है। तीसरेके खेतमें अंकुर निकल आये हैं। चौथेके पककर तयार हैं। पांचवां किसान नाज काटरहा है । छठा नाजकी रोटी पकाकर भोजन

कररहा है । सातवां भरपेट भोजनकर खाटपर सुखकीनींद लेरहा है । तो जितना अन्तर पहले और सातवें किसानमें है इतना ही अन्तर पहली और सातवीं भूमिकावाले योगियोंमें है। इसलिये योगकी सातवीं भूमिकावाला, जो योगसंसिद्ध कहाजाता है, कर्मियोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ समझाजाता है ।

शंका— जब भगवान् योगीको ज्ञानियोंसे श्रेष्ठ कहचुके तो फिर कर्मियोंसे श्रेष्ठ कहनेकी क्या आवश्यकता थी ? क्योंकि कर्मीसे ज्ञानी तो सदा श्रेष्ठ ही है तो फिर तिस ज्ञानीसे योगी क्यों नहीं श्रेष्ठ होगा ?

समाधान— बहुतेरे विद्वान् कर्म और ज्ञानका समुच्चय मानते हैं इस समुच्चयको दूर करनेके तात्पर्य्यसे भगवान्ने कर्मी और ज्ञानी दोनोंको बिलग-बिलग कहा है, नहीं तो दोनोंके कहनेकी आवश्यकता नहीं थी केवल ज्ञानीसे श्रेष्ठ कहना ही मुख्य तात्पर्य्यको सिद्ध करदेता । शंका मतकरो !

अब भगवान् योगीकी श्रेष्ठता दिखलातेहुए अर्जुनसे कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तू भी योगी होजा ।

भगवान्के कहनेका आन्तरिक तात्पर्य्य यह है, कि हे अर्जुन ! तू भी पूर्वजन्मका योगी है, जिससे तू श्रीमानोंके कुलमें उत्पन्न हुआ है और इसी कारण त्यागकी भूमिका तुझमें अपना प्रभाव दिखला रही है, जिससे तू मुझसे बार-बार युद्ध छोडकर सन्यासी होजानेकी

बातें कररहा है । पर मैं तुझे पहले भी कह आया हूं, कि श्रीमानोंके कुलमें उत्पन्न होनेसे बहुतेरी बातें योगकी प्रतिबन्धक होजाती हैं । तेरेलिये भी यह युद्ध योगका प्रतिबन्धक है। तू बुद्धिमान् है, तुझको चाहिये, कि अपने यथार्थ ब्रह्मपथमें चलतेहुए जहांतक संभव हो शीघ्र युद्धरूप प्रतिबन्धको समाप्तकर अपने योगका मार्ग ले ! और श्रद्धापूर्वक मेरे स्वरूपमें आमिल ! ॥ ४६ ॥

क्योंकि—

मू०— योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
॥ ४७ ॥

पदच्छेदः— यः (योगी) श्रद्धावान् (वासुदेवान्न परं किंचिदिति श्रद्दधानः) मद्गतेन (मयि वासुदेवे समाहितेन) अन्तरात्मना (अन्तःकरणेन) माम् (नारायणमीश्वरं सगुणं निर्गुणं वा) भजते (सेवते । सततं चिन्तयति वा) सः (योगी) सर्वेषां (अन्यदेवताध्यानपराणाम्) योगिनाम् (ध्यानयोगयुक्तानाम्) अपि, युक्ततमः (सर्वेभ्यः समाहितचित्तेभ्यः श्रेष्ठः) [इति] मे (मम) मतः (संमतः । अभिप्रेतो वा) ॥ ४७ ॥

पदार्थः— (यः) जो योगी (श्रद्धावान्) श्रद्धायुक्त है (मद्गतेन) मुझ वासुदेवमें समाहित (अन्तरात्मना) अन्तःकरणसे (माम्) मुझको (भजते) भजता है (सः) सो योगी

(सर्वेषां योगिनाम्) सर्व प्रकारके अन्य देवताओंके भजनेवाले योगियोंसे (अपि) भी (युक्ततमः) श्रेष्ठतम है यही (मे) मेरी (मतः) सम्मति है ॥ ४७ ॥

भावार्थः— अब भगवान् इस छठे अध्यायको समाप्त करते हैं । कर्मकाण्डके विषय जो कुछ कहना था सब इन छवों अध्यायोंमें वर्णन करचुके। जन्मसे मरण तक तथा इस लोकसे परलोक तक कर्मसे क्या लाभ है ? कर्म कितने प्रकारके हैं ? किस प्राणीको किस कर्मके करनेका अधिकार है ? सब बताचुके अर्थात् भगवान्ने अर्जुनपर कृपा करे उदारताके साथ कर्मोंके विषय १२ प्रकारके यज्ञोंका वर्णन प्रारब्ध, आगामी और संचित कर्मोंके भेद, निष्काम सकाम कर्मोंका परिणाम तथा कर्मसे बढते-बढते ज्ञान तक पहुंचनेकी रीति सब कुछ बतला दिया ।

अब भगवान् उपासनाका आरम्भ करेंगे जो बिना कर्मके परिपक्व हुए (अभिव्यक्त) प्रकट नहीं होसकता। इसलिये यह ४७ वां श्लोक कर्म और उपासना दोनोंके मध्यमें ऐसे सुशोभित है जैसे सन्ध्या दिवा और रात्रि दोनोंके मध्यमें सुशोभित होती है । तात्पर्य यह है, कि इस श्लोकसे कर्मकाण्डकी समाप्ति और उपासनाका आरम्भ समझना चाहिये ।

कर्म करनेवालोंमें उत्तम और श्रेष्ठ वही समझा जाता है जिसके हृदयमें कर्म करते-करते उपासनाका अंकुर उदय होजाता है उपासनाके आनन्दसे जो प्राणी वंचित रहा तो उसका सारा कर्मकाण्ड

तथा सारी योगक्रिया निरर्थक है । इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना] जितने प्रकारके योगी हैं उनमें जो अन्तरात्मासे मुझमें लगाहुआ है वही मेरे जानते श्रेष्ठ है। अभिप्राय यह है, कि सर्व प्रकारके योगोंका साधन करते हुए तथा सर्व व्यवहार करते हुए अर्थात खाते, पीते, सोते, जागते, उठते, बैठते, चलते, फिरते और बोलते चालते सब दशाओंमें जो मुझहीको हृदयमें रक्खेहुए रहता है और तहां भीतर, बाहर, जड, चैतन्य सबमें मुझहीको अन्तरात्मासे देखता है। चाहें किसी भी कार्यमें क्यों न रत हो पर तहांभी मुझहीको स्मरण रखता है, तो ऐसा भक्तियोगयुक्तयोगी अन्य सब योगियोंमें श्रेष्ठ है। क्योंकि अन्य सर्व प्रकारके योग इस भक्तियोगके साधन-स्वरूप हैं। सब योगोंका फल यह भक्तियोग ही है। प्रमाण— " सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽधिकतरा " (नारदभक्तिसूत्र) सो जो भक्तियोग है वह कर्म, ज्ञान और योगसे अधिकतर है । अथवा यों भी अर्थ करलो, कि सो भक्तियोग कर्म, ज्ञान और अन्य नाना प्रकारके योगोंसे श्रेष्ठ है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि [श्रद्धा-वान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः] जो उक्त प्रकारकी श्रद्धा करताहुआ सदा मेरी ही सेवा करता है और मुझहीको स्मरण रखता है अर्थात घर-बार, बाल-बच्चे धन, सम्पत्ति इत्यादिके मध्य रहताहुआ भी जनक और अम्बरीषके समान मेरी ही स्मृतिमें लगा रहता है वही योगी मेरे जानते अन्य सब योगियोंमें अधिक युक्त है अर्थात् अन्य सब योगियोंमें श्रेष्ठ है। क्योंकि मेरे स्वरूपका ध्यान करनेवाले योगीके चरणोंमें देव देवी सभी शिर

पुकारते हैं। अथवा यों समझलीजिये, कि अन्य देव देवीकी उपासना करनेवाले योगियोंमें मेरे जानते वही योगी श्रेष्ठ है जो मुझ वासुदेवके निराकार वा साकार स्वरूपकी उपासना करता है। क्योंकि ब्रह्मलोकमें ब्रह्मासे लेकर पातालमें शेष पर्यन्त जितने नायक हैं उन सबोंका भी मैं ही नायक हूं। इसलिये मुझे सभी ईश्वरेश्वर, सर्वेश्वर, महेश्वर और जगद्गुरु इत्यादि नामोंसे पुकारते हैं। फिर जिसने मूलको पकडलिया उसको सर्वोत्तम और श्रेष्ठ योगी होनेमें क्या सन्देह रहा ? कुछ भी नहीं! भक्तवत्सल, दीनबन्धु, जगतहितकारी, गोलोक-विहारीका मुख्य अभिप्राय यह है, कि भक्तियोग-युक्त मेरा भक्त ही सबोंसे श्रेष्ठ है। इसमें तनिक भी शंका नहीं करनी चाहिये। इसी विषयको भगवान् उद्धवसे कहते हैं—

"ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥
प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुने!।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद्यदि वाञ्छति ॥
न किंचित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वांछन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥
(श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अ० २० श्लोक २८ से ३४)

अर्थ— जब विषय-भोगोंके दुःखदायी फलोंकी ओर दृष्टि जाती है और प्राणीको ऐसा अनुभव होता है, कि मायाकी प्रबलताको जयकरना सर्वप्रकार कठिन है (ततो·······) तब उन दुःखरूप नाना प्रकारके विषयोंको परिणाममें निन्दनीय समझता हुआ और तिरस्कार करताहुआ केवल शरीरयात्राके निर्वाहमात्र उनको सेवन करता हुआ मेरी भक्तिमें आपहुँचता है और ऐसा निश्चय करलेता है, कि भक्तिसे ही मेरे सब मनोरथ पूरे होजावेंगे । मैंने पहले जो भक्ति योगका कथन किया उससे युक्त, नित्य मेरा भजन करनेवाले पुरुषके हृदयमें मेरी स्थिति होनेसे सर्वप्रकारके विषयोंकी कामनाएँ नष्ट होजाती हैं । मेरे सर्वान्तर्यामी स्वरूपका साक्षात्कार जब भक्तके हृदयमें होता है तब उसके हृदयमें जो नाना प्रकारकी मलीन वासनाओंकी गांठे हैं वे सबकीसब कटजाती हैं तथा असंभावना इत्यादि सर्व सन्देह हट जाते हैं । बन्धनके मुख्य कारण जो शुभाशुभ-कर्म हैं वे विला जाते हैं । इसी कारण मेरी भक्तिसे युक्त, मुझहीमें तनमन लगानेवाले योगीको ज्ञान, वैराग्य वा किसी अन्य साधनकी आवश्यकता शेष नहीं रहती । क्योंकि विना भक्ति प्राप्त हुए ये कल्याणकारक नहीं हैं । कारण यह है, कि कर्म

तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म्म और तीर्थयात्रादि साधनोंसे जो फल मिलता है वह मेरी भक्तिसे मेरे भक्तको विना परिश्रम प्राप्त हो जाता है। यदि मेरा भक्त स्वर्ग, मोक्ष वा मेरे निजधामकी इच्छा करे तो ये सब भी उसे मिलसकते हैं। पर हे उद्धव! मेरा भक्त तो मुझको छोड अन्य वस्तुओंकी इच्छा ही नहीं करता। क्योंकि जो धीर-पुरुष मेरे एकान्त भक्त अर्थात् अनन्य भक्त हैं वे मेरे आग्रहसे दियेहुए मोक्ष-पदको भी ग्रहण नहीं करते फिर अन्य प्रकारकी कामनाओंका तो कहना ही क्या है?

एवम् प्रकार भगवान्‌ने जो उद्धवके प्रति भक्तियोगका उपदेश किया, उसी भक्तियोगको सब योगोंमें श्रेष्ठ जनानेके तात्पर्य्यसे भगवान् अब गीताके इस ४७ वें श्लोकमें अर्जुनसे भी कहते हैं, कि [श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः] मुझमें श्रद्धायुक्त होकर जो अहर्निश मुझहीमें लगाहुआ है उसी योगीको मैं युक्ततम मानता हूं।

देखो! भगवान् स्वयं आगे इस सम्पूर्ण गीतामें अपने स्वरूपकी श्रेष्ठता दिखलाते हुए अपने साकार वा निराकार स्वरूपमें भक्तियुक्त होनेका उपदेश करते चलेगये हैं। जैसे अध्याय ७. श्लो० ७ "मत्तः परतरन्नान्यत्" अर्थात् हे धनंजय! मुझसे परे अन्य कुछ भी नहीं है। जैसे सूतमें मणि पिरोयी हुई हैं ऐसे यह सम्पूर्ण जगत मुझमें पिरोया हुआ है।

अ० ८ श्लो० १५ "मामुपेत्य पुनर्जन्म ...."

अर्थ— महात्मा लोग मुझको प्राप्त होकर फिर दुःखका भांडार रूप जो अनित्य जन्म सो नहीं पाते । क्योंकि वे लोग परम सिद्धिको अर्थात् मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए हैं ।

अ० ६ श्लो० ३४ "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी……"
अर्थ— तू मेरी ओर अपना मन लगा! मेरा भक्त होजा! मेरे स्वरूपका यजन करनेवाला अर्थात् आराधना करनेवाला होजा! मुझहीको नमस्कार कर! इसी प्रकार मत्परायण होकर मुझमें अपने अन्तःकरणको युक्त करनेसे मुझहीको प्राप्त होजावेगा ।

अध्याय १० श्लो० ६ "मच्चित्ता मद्गतप्राणा………"
अर्थ—जिनका चित्त केवल मुझहीमें लगा है और जिनका प्राण केवल मुझहीमें अर्पण कियाहुआ है ऐसे मेरे भक्तजन परस्पर एक दूसरेको मेरा ही विषय समझाते हुए और सर्वदा मेरी ही कथाका कथन करतेहुए सन्तोषको प्राप्त होते हैं और मेरेहीमें रमण करते हैं ।

अध्याय ११ श्लो० ५४ "भक्त्या त्वनन्यया शक्य………"
अर्थ—हे परन्तप अर्जुन! मेरी अनन्य भक्तिहीसे मेरे भक्त मुझको जानसकते हैं, देखसकते हैं और समझसकते हैं ।

अध्याय १२ श्लो० २ और ८ "मय्यावेश्य मनो ये माम्……"
अर्थ— मुझमें मन एकाग्र कियेहुए सर्वदा मुझहीमें युक्त रहकर उत्कृष्ट श्रद्धासे जो लोग मेरी उपासना करते हैं वे ही मेरे मतमें युक्ततम योगी हैं ।

फिर कहते हैं, कि " मय्येव मन आधत्स्व····" श्लो० ८ अर्थ— मुझहीमें मनको स्थिरकर! मुझहीमें अपनी बुद्धिको प्रवेश कर! तब इसके उपरान्त ऊर्द्ध-देशमें तू मुझहीमें निवास करेगा! इसमें तनिक भी संशय नहीं है।

अध्याय १३ श्लो० १० "मयि चानन्ययोगेन भक्तिः·······" अर्थ—मुझमें अनन्य योगसे अर्थात् अन्य सब आश्रयोंको त्याग मेरे ही आश्रयसे युक्तहोकर अव्यभिचारिणी भक्तिसे पूर्ण होना, निर्जनस्थानमें अवस्थिति और मनुष्य-समाजसे अप्रीति इत्यादिका होना ही परम-ज्ञान है।

अध्याय १४ श्लो० २६ " माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्ति-योगेन····" अर्थ—जो मुझको अनन्यभक्तिसे सेवन करता है वह इन सब गुणोंसे परे होकर ब्रह्मभावके योग्य होजाता है अर्थात् मेरा ही स्वरूप बनजानेका अधिकारी होजाता है।

अध्याय १८ श्लो० ६५ "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी····" अर्थ— तू मुझसे मन लगा! मेरा भक्त हो! मेरा उपासक हो! मेरेहीको नमस्कार कर! तो तू मुझहीको प्राप्त होगा! यह मैं तुझे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूं। क्योंकि तू मेरा प्यारा है।

उक्त प्रकार श्री सच्चिदानन्द आनन्दकेन्द अर्जुनको सब योगियोंमें प्रेमयोगीकी श्रेष्ठता दिखातेहुए अगले अध्यायसे उपासनाकी शिक्षा देनेको तत्पर हुए। क्योंकि कर्म्म समाप्त होनेके पश्चात् प्रेमयोग

अर्थात् भक्तियोगकी प्राप्तिके निमित्त उपासनाहीकी आवश्यकता होती है ।

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाऽऽभात्,
पीताम्बरादरुणविम्बफलाऽधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्,
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहन्नजाने ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिना हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्यां टीकायां आत्मसंयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

महाभारते भीष्मपर्वणि तु त्रिंशोऽध्यायः ॥

इति षष्ठोऽध्यायः



इति
कर्मकाण्डाख्यः
प्रथमपट्कः

शुद्धाशुद्ध-पत्रम्

[अशुद्ध]	शुद्ध	पृ०	पं०
	लर्न्नेनागा	११८२	१६
	पुंनरन	१६८२	८
	नामकरंण	,,	९
	मायरिक्त	,,	१२
	पाण्डव	१२६०	१८
	रजतर	१२६५	१
	श्रमः	१२००	१७
	मतिपिद्धेतु	१३०२	१२
	परं	१३०३	१४
तयैव	तथैव	,,	,,
परित्याग	परित्याग	१३०७	१…
पापे	पापे		
योगाङ्ग्ज्ञान	योगा…		
भेदास्ति	?	…१४	५
स्याश्चौ	स्याश्चा	१३१४	१९
फलतागिनः	फलभागिनः	१३२२	९
रागद्वेपे	रागद्वेष	१३२२	११
विशिष्यते	विशिष्यते	१३३५	४
नवनीति	नवनीत	१३४०	२
तत्रैकाग्रयन्	तत्रैकाग्रम्	१३५७	१२
दिगांशा	दिगाशा	१३६१	५
नासिका-	नासिका-	,,	६
याऽन्म	या ग्म		

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
अहार	आहार	१३८९	१
योग	योगं	१३९५	११
भूतेयन्द्र	भूतेन्द्रिय	१४०१	१८
ज्योति	ज्योतिः	१४०३	१४
सिद्धति	सिध्यति	१४०४	२१
वृति	वृत्ति	१४०९	१३
अतिन्द्रिय	अतीन्द्रिय	१४१६	११
सम्पुनक्तु	संपुनक्तु	१४३१	५
विपर्य	विपर्य्यय	१४४६	१
व्यवहारमानः	व्यवहरमाणः	१४८२	१६
	द्वद्व	१४८३	११
		१५०५	५
विवयस्नोतः	…ताः	१५१७	११

पृष्ठांक १५३२ से १५३६ तक छपनेमें रहगये हैं अतः शुद्ध करलेने चाहियें।

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
क्षुद्राणय स वृद्धा	क्षुद्राण्यसद्वृदा	१५३७	१९
अरभिः	आरभिः	१५४३	टि०
अथेत्यन्तरम्	अथेत्यनन्तरम्	१५४९	१
रन्यथा	रन्यथा	१५६०	९
मन्तस्थ	मन्तःस्थ	१५६७	१५
क्षमा	क्षमी	१५७४	९
अयाप	अयपा	१५७७	१२
विशेपक	विशेषक	१५८१	१९